श्रीमद् स्वामी निर्वेदानन्द जी

एक पूर्ण संन्यासी

श्रीमद् स्वामी निर्वेदानन्द जी

एक पूर्ण संन्यासी

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णास्स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ।।

- विवेकचूडामणि

प्रकाशक :
डी.पी. सिंह
बी-१४२, सेक्टर 'सी'
महानगर, लखनऊ-२२६ ००६
(उ.प्र.)

(मूल अंग्रेजी पुस्तक- Swami Nirvedananda- A True Sannyasin पर आधारित)
प्रथम संस्करण : जनवरी, १९९२

प्रतियां प्राप्त करने का पता:
डॉ. रमा शंकर सिंह
५६१ जी, अरविंद कालोनी
रवीन्द्र पुरी (गोराबाजार)
गाजीपुर (उ.प्र.)-२३३ ००१

मुद्रक : प्रिन्टेक, लखनऊ,
फोन: २४८५९८०,२३५८७४

प्रस्तावना

संतों का जीवन स्वयं में ही ईश्वर की सबसे उत्तम व्याख्या होती है। संत इस संसार में परमेश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं। वे संत ही हैं जिनके रूप में परमेश्वर अपनी सन्तानों को अपने निकट बुलाने हेतु स्वयं को बार-बार प्रकट करते हैं। केवल उनकी जीवन लीला का सदैव चिन्तन करते हुए उनके पदचिन्हों का अनुसरण करके ही हम जीवन के अंतिम लक्ष्य को सहज रूप से प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह विडंबना ही तो है कि इस संसार की धूल से लिप्त अपने ही संस्कारों के कारण बहुधा हम केवल उनकी प्रशंसा करके ही रह जाते हैं तथा अपेक्षित परिणाम से वंचित हो जाते हैं। संसार की ध्यानभंग करने वाली अशांति तथा प्रसिद्धि से दूर रहकर अनवरत रूप से ईश्वर-चिन्तन में मग्न रहना संतों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उनके शिक्षण का सजीव माध्यम उनका मौन तथा कृपादृष्टि मात्र होती है।

ईश्वर की विभिन्न प्रकार से व्याख्या करने वाली कर्म और दर्शन शास्त्र की विभिन्न पुस्तकों से भरे ग्रंथालयों की अपेक्षा संतों का जीवन कहीं अधिक शिक्षाप्रद होता है। उनके मुख से निकले कुछ ही शब्द हमारे पवित्र शास्त्रों का सार बन जाते हैं। परमेश्वर के उपवन के किसी एकान्त स्थान में रहने वाले ये सुविकसित पुष्प अधिकांश लोगों के लिए अज्ञात ही रह जाते हैं, परन्तु संतों का जीवन, उनके संदेश तथा वे अपने पीछे जो आध्यात्मिक प्रवाह छोड़ जाते हैं, इसी कारण निरंतर पतन होते नैतिक मूल्यों के बीच भी यह धरती अभी तक स्वयं को धारण किये हुए हैं। हमारी उनके प्रति कृतज्ञता केवल उनकी प्रशंसा करने तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए अपितु उनका जीवन हमारे अनुसरण के लिए ही है।

स्वामी निर्वेदानंद जी ऐसे ही एक पूर्ण विकसित पुष्प थे। स्वामीजी का जन्म केरल प्रान्त में पालघाट में हुआ था तथा आध्यात्म मार्ग की दीक्षा उन्हें श्री रामकृष्ण परमहंस की परम्परा के महान संत स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी महाराज से प्राप्त हुई थी। गाजीपुर में स्वामी निर्वेदानंद जी अपने सद्गुरु

के उपदेशों को पूर्ण रूप से आत्मसात कर जीवन में उनका मूर्तरूप होकर रहते थे। पवित्रता, अपरिग्रह, सरलता, तितिक्षा तथा परमेश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण आदि की व्याख्या को उनके जीवन द्वारा जैसे नव-जीवन प्राप्त हुआ। उनका जीवन हमारे पवित्र ग्रंथों में उद्घोषित उपदेशों और आश्वासनों का प्रत्यक्ष प्रमाण था।

इस प्रकार के व्यक्ति के जीवन पर पुस्तक लिखने में अपनी असमर्थता हम स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य स्वामीजी द्वारा लिखित विभिन्न रचनाओं का संकलन करना था जिनमें से अधिकांश विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु जैसे-जैसे हम इस उदात्त कार्य में आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे स्वामीजी के जीवन से अधिकाधिक प्रेरणा पाकर उनके पत्र व्यवहार तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके स्वयं प्रकाशित जीवन पर कुछ प्रकाश डालने का हमारा साहस बढ़ता गया।

बहुधा सन्तों के साथ हुए अपने अनुभव यथावत् वर्णन करने पर उन्हें उचित भाव से ग्रहण न किये जाने के कारण वे कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं। फिर भी, स्वामीजी के जीवन का वर्णन करते समय किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न हो इसका यथासम्भव प्रयास किया गया है।

स्वामीजी स्वभाव से ही कुछ कम बोलने वाले होने के कारण, उनके विचार तथा उपदेश उनके पत्र व्यवहार में कहीं अधिक प्रभावी ढंग से व्यक्त हुए हैं। ये पत्र स्वामीजी ने समय समय पर विभिन्न कार्यक्षेत्रों में रत अपने उन भक्तों को लिखे थे जिन्हें स्वामीजी ने सदैव अपना मित्र ही माना। इन पत्रों को हमनें संकलित कर इस पुस्तक में तिथि अनुसार सम्मिलित किया है। इन पत्रों के माध्यम से पाठकों की स्वामीजी से सीधे भेंट कराने का प्रयास किया गया है। स्वामीजी के अधिकतर पत्र मूल अंग्रेजी में ही लिखे हुए हैं, परन्तु उनके हिंदी में लिखे कुछ पत्र भी उपलब्ध हैं, जो इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण में सम्मिलित नहीं किये गये थे। इन्हें हिंदी संस्करण में सम्मिलित कर दिया गया है। ये सभी पत्र केवल

रोचक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक साधना के लिए अतिशय उपयोगी मार्गदर्शक भी हैं।

स्वामी शंकरानंदजी ने इस पुस्तक की भूमिका के रूप में तथा स्वामी ज्ञानानंद जी और श्री के.वी. जानकी रमणन ने अपने संस्मरणों के रूप में अपनी प्रभावशाली रचनाएं भेजकर हम लोगों का जो उत्साहवर्धन किया, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

अंत में, हम इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग करने वाले सभी सज्जनों पर स्वामी जी के शुभाशीर्वाद का आह्वाहन करते हैं।

- भक्तजन

स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी महराज

Vasishtha Guha
Rishikesh
10-5-54

Life is short and way too long
Be ye traveller quick and smart.
Keep your aim quite fresh in heart
And the way will itself become short.

Mishaps and troubles, His Blessings both
Take them all with hope and joy.
He is all love and mercy great
Waiting to meet all at the gate.
Pack up, pack up with haste in mind
And speed on like a madman, friend,
Looking neither hither nor thither
To lay thee thyself at His feet.

With Blessings from a sincere one
I remain ever all yours
A Seeker of Him who dwells in Cave
Purush and Uttam who feels for all.

(श्री ए.के. वाटल को स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी द्वारा लिखी गई कविता स्वामी निर्वेदानंद जी की हस्तलिपि में)
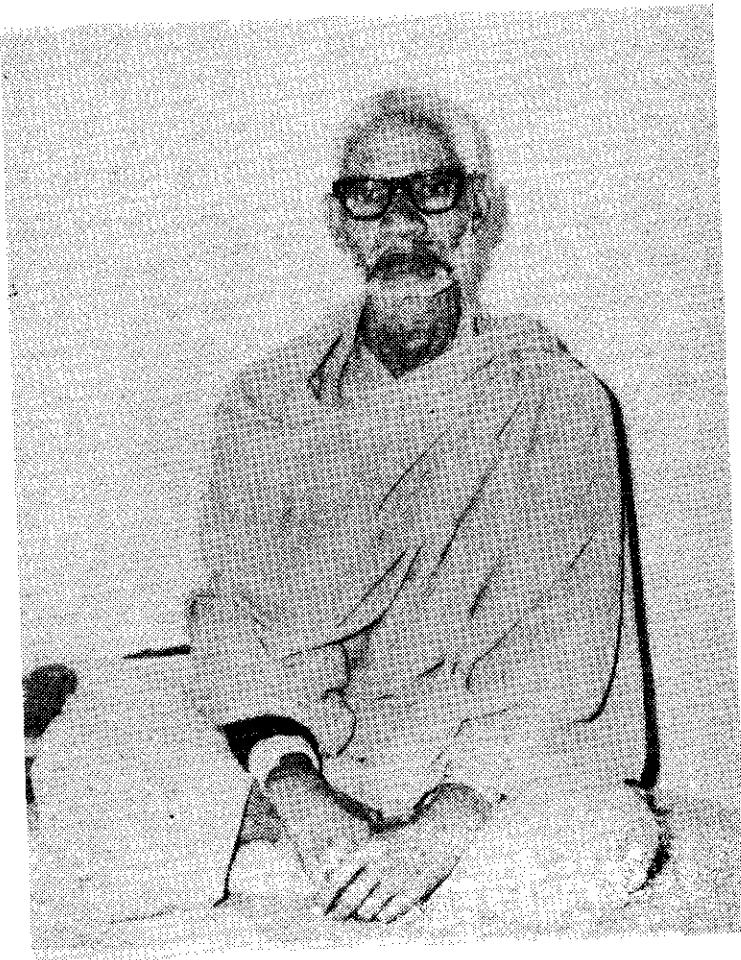
स्वामी निर्वेदानंद जी महराज

न गुरोरधिक तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्री गुरवे नमः।।

भूमिका

यह पुस्तिका हमारे वरिष्ठ गुरु भाइयों में से एक स्वामी निर्वेदानन्द जी पर, उनके भक्तों व प्रशंसकों द्वारा उनकी महा-समाधि (२८ फरवरी, १९९१ होली-पूर्णिमा) के पश्चात् विशेषकर आपस में ही वितरण हेतु, प्रकाशित की जा रही है। इस दृष्टि से वास्तव में उनसे परिचय कराने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उन सच्चे साधकों के लिए जो अध्यात्म-मार्ग पर नये हैं, स्वामी जी के आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से परिचय प्राप्त करना अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होगा। स्वामीजी का शान्त जीवन और उपदेश उनके भक्तों के लिए मनोबल और मार्ग-दर्शन का निरन्तर स्रोत है।

स्वामीजी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण तथा आचरण उनके नाम-निर्वेदानन्द अर्थात् वह जो सांसारिक वस्तुओं के प्रति पूर्णतः उदासीन हों, के साथ निश्चित ही न्यायसंगत था। वे न तो एक निराशावादी थे, जैसा कि उनका नाम सुनने से भ्रम हो सकता है, न ही आशावादी थे। न तो उनमें आदर्शवाद का अतिरेक था, जो कुछ साधुओं में कभी-कभी दिखाई देता है, न ही स्वयं को अत्याधुनिक दिखाने की यथार्थवादी प्रवृत्ति थी। सत्य तो यह है कि बिना बाह्य दिखावे के जनता का ध्यान परिधान, बोलचाल, वक्तव्य इत्यादि द्वारा आकर्षित किये बिना उन्होंने पूरी तरह से एक साधु का स्वाभाविक व सहज जीवन बिताया। उन्होंने पद अथवा प्रसिद्धि की लालसा नहीं की। परन्तु शास्त्रों में एक साधु के लिए जिस प्रकार का अनुशासित जीवन बताया गया है, उसका अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे क्रमशः साधुओं अथवा गृहस्थ जिसके भी सम्पर्क में आये, उन्होंने स्वामी जी को प्रेम तथा आदर दिया। 'यम' और 'नियम' जीवन के आधार-स्तम्भ होते हैं; तथा हम किसी भी देश, काल में रहने वाले हों अथवा किसी भी उपासना पद्धति या दर्शन में विश्वास रखने वाले हों, ये दो महान सद्गुण जब आचरण में लाये जाते हैं, तभी जीवन सार्थक बन सकता है। इस संसार में अथवा

भविष्य में (मरणोपरान्त) सुख और शान्ति की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए ये गुण ही सच्ची सम्पत्ति और आभूषण होते हैं। स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक सदैव इन महाव्रतों का पालन करने की कोशिश की। जीवन के अन्तिम चार-पाँच वर्षों में भी जब वे असाध्य रोग से शय्याग्रस्त थे, उनकी यही प्रवृत्ति कायम रही।

स्वामी जी की गुरु महाराज और शास्त्र-वचनों पर अत्यन्त निष्ठा थी और महाराज जी के वचन उनके लिए वेद-वाक्य थे। जब सन् १९८७ में 'वशिष्ठगुहा आश्रम' से 'पुरुषोत्तमाष्टकम्' प्रकाशित हुआ, उन्होंने मुझे लिखा, "सन् १९५७ में जब इस स्तोत्र की रचना हुई और मैंने इसे पढ़ा, तब से प्रतिदिन रात में सोने से पूर्व मैं इसके अन्तिम श्लोक का पाठ करता आया हूँ।"

"कारुण्यामृतवर्षिनेत्रयुगलं यस्य प्रकृत्या स्वयं,
दीनानामुपरिस्फुटं वितरति प्रीत्या च हेतुं विना।
तस्य स्वात्मरतस्य पूज्यचरणद्वन्द्वस्य मे सुद्गुरो-
रद्वैतात्मयतीश्वरस्य करुणापात्रं भवेयं सदा॥"

वे लोग जो स्वामीजी की शय्याग्रस्त अवस्था के साक्षी हैं, इस बात को महसूस करने में समर्थ हैं कि उनकी प्रार्थना पूर्ण हुई थी। हालाँकि वे वशिष्ठगुहा से दूर रहते थे, फिर भी हम लोगों के गुरु-स्थान के कल्याण का विचार उनके मन में सदैव रहता था तथा भवन जर्नल, माउन्टेन पाथ आदि पत्रिकाओं के लिए महाराज जी के विषय में रचनाएँ भेजकर, महाराज जी की रचनाओं का संकलन और अनुवाद कर, तथा सम्पर्क में आने वालों को वशिष्ठ गुहा जाने के लिए प्रेरित कर, वे सद्कार्य भी करते रहे। उनके पत्र गुरुभाई, महाराज जी के गृहस्थ और साधारण शिष्यगण तथा उनके मित्रों और भक्तों के लिए मनोबल और प्रेरणा के स्रोत हुआ करते थे।

स्वामीजी धर्म तथा दर्शनशास्त्र के विवादित विषयों पर बहुत अधिक तर्क-वितर्क के पक्ष में नहीं थे। ऐसे अवसरों पर उनकी सहज टिप्पणी

होती थी, "यह सारा तर्कशास्त्र मेरे लिए बहुत जटिल है; मैं तो परम्परा और शास्त्र जो कहते हैं, उस पर विश्वास करता हूँ और उससे पूर्णतः सुखी और सन्तुष्ट हूँ।" उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ कम से कम हुआ करती थीं और इस कारण एक साधु के रूप में वे समाज पर किसी प्रकार से बोझ नहीं थे। उन्होंने अपने लिए कभी एक कुटी भी नहीं बनाई। उनका सारा सामान एक छोटे से झोले में एकत्रित हो सकता था। उन्होंने कभी अपने साथ घड़ी नहीं रखी; परन्तु वह किसी भी समय केवल अधिक से अधिक चार-पाँच मिनट की त्रुटि पर वास्तविक समय का अनुमान लगा लिया करते थे। अपने सभी क्रियाकलापों में वे अतिशय अनुशासित, सुव्यवस्थित तथा निपुण थे। यह तभी सम्भव होता है जबकि कार्य छोटा हो या बड़ा; उसके प्रति व्यक्ति के हृदय में प्रेम हो; और प्रेम में निष्ठा भी समाविष्ट होती है। स्वामीजी ने एक साधु के मुक्त जीवन का सदैव आनन्द लिया। जनसाधारण के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति संवेदनशीलता ने उन्हें सभा-बैठकों को सम्बोधित करने से दूर रखा। ऐसा नहीं है कि उनमें ज्ञान और शैली की कमी थी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनाएँ, उनके द्वारा किए गए अनुवाद तथा सम्पादित पुस्तकें इस बात के प्रमाण हैं। उनके पास जाने वाले किसी भी व्यक्ति की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते हुए भी अन्य के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना तथा वचनबद्ध न होना ये दो गुण स्वामीजी के स्वभाव में दिखाई देते हैं। इसके बावजूद भी वे प्रेमभाव में उचित सलाह व सुझाव दिया करते थे।

वे वास्तव में ही 'निर्वेदानन्द' थे। बागवानी में उनकी विशेष रुचि नहीं थी; परन्तु स्वामीजी का सौन्दर्यबोध उन्हें प्रभात अथवा संध्याकाल में बाग में किसी खिलते हुए पुष्प के निकट दीर्घकाल तक बैठाता था। निशामुखी पुष्प की कली के खिलने की प्रक्रिया को, जिसमें उसकी एक-एक पंखुड़ी खिलती जाती है और अन्त में उनका आवरण एक झटके के साथ दूर हो जाता है; वे बड़े ध्यान-पूर्वक देखा करते थे। इस पूरी प्रक्रिया

को देखकर वे इतने आनन्दित हो जाते थे कि इस रचना में अभिव्यक्त होने वाली ईश्वर लीला को देखने के लिए वे अन्य व्यक्तियों को भी बुलाने लगते थे। वे इतने सुसंस्कृत और कोमल हृदय के व्यक्ति थे कि लोगों को पौधे तथा फूल दोनों को क्षति पहुँचाते हुए बर्बरता से पुष्प तोड़ते वे नहीं देख सकते थे।

स्वभाव से ही अतिशय संकोची स्वामीजी किसी को मित्र, भक्त अथवा शिष्य के रूप में स्वीकार करने में बड़े सावधान रहते थे। परन्तु काफी समय तक भलीभाँति आंकलन करने के पश्चात् जब वे किसी को स्वीकार करते थे तब वह सम्बन्ध आजीवन के लिए होता था। अतिशय सुसंस्कृत वातावरण में पालन-पोषण होने के कारण उनका आचरण तथा वार्तालाप शिष्ट और सौम्य होता था। उन्होंने अपने शब्दों अथवा कृत्यों से कभी दूसरों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाई। 'अन्नं न निन्द्यात्' इस शास्त्र-वचन का स्वामी जी ने पूरी निष्ठा के साथ पालन किया। भोजन में यदि कोई पदार्थ उनके स्वाद के अनुरूप न हो, उसके विषय में पूछे जाने पर वे मुस्कराते हुए केवल इतना ही कहते, "बहुत अच्छा बना है अगली बार नमक मिर्च थोड़ा कम अथवा अधिक कर दीजिएगा।" इससे अधिक कुछ नहीं कहते।स्वामीजी चाय के शौकीन थे और "कोई भी समय चाय का समय है" उनके साथ सत्य था।

बिना किसी अतिशयोक्ति के हम यह कह सकते हैं कि हमारे स्वामीजी एक कृतकृत्य व्यक्ति थे। वे एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने कर्त्तव्यों को पूर्णरूप से निभाया। अपने पूर्वाश्रम में एक कर्त्तव्यनिष्ठ पुत्र के रूप में अपने माता-पिता, भाई बहन, तथा अन्य सम्बन्धियों की उन्होंने देखभाल की; संन्यास लेने के पश्चात् शिष्य के रूप में गुरुमहाराज की सेवा में, अपने गुरु-स्थान को सुदृढ़ करने और महाराज जी के जीवन तथा उपदेशों का सुशिक्षित लोगों में प्रसार करने में उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। एक गुरुभाई के रूप में उन्होंने अपने अन्य गुरुभाईयों से प्रेम किया और उनसे प्रेम पाया; एक संन्यासी के रूप में अन्य संन्यासियों का आदर

किया; एक साधक के रूप में तीर्थ यात्राएँ कीं, शास्त्राध्ययन और तप किया और एक पथ-प्रदर्शक के रूप में अध्यात्म की राह पर चलने वाले मुमुक्षुओं को उचित परामर्श दिया।

इस प्रकार ध्यानपूर्वक देखने पर किसी भी सच्चे साधक के लिए आवश्यक गुण हमें स्वामी जी में दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ उनमें नैसर्गिक थे और कुछ प्रयत्नपूर्वक विकसित किए हुए थे। किसी अन्य व्यक्ति में व्यक्त इन सद्गुणों का अवलोकन कर उनके महत्त्व को समझना ही इन्हें आत्मसात करने का मार्ग है।

इस पुस्तिका के अगले पृष्ठों में स्वामीजी के आध्यात्मिक जीवन के अन्य पहलुओं पर विस्तार से चर्चा होगी।

हरि ॐ तत् सत्

स्वामी शंकरानन्द

मंगलाश्रम
उत्तरकाशी
२६ जुलाई, १९९१,
(गुरुपूर्णिमा)
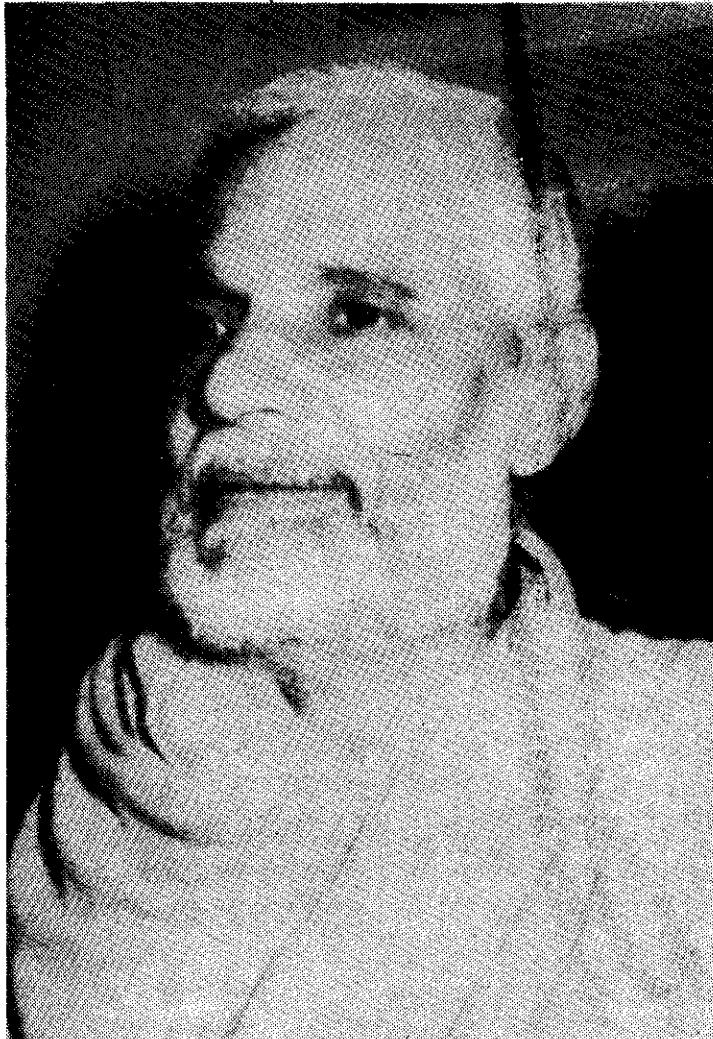
स्वामी निर्वेदानंद जी महराज

ॐ

संक्षिप्त जीवनी

I

उत्तिष्ठत जाग्रत
प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

- कठोपनिषत्

''उठो जागो और ज्ञानीजनों के पास जाकर ज्ञान को प्राप्त करो। बुद्धिमान जन इस पथ को तलवार की तेज धार के समान दुर्गम बताते हैं, जिस पर चलना अत्यन्त कठिन है।''

अनेक लोगों ने कठोपनिषद् के इस कथन को सुना होगा परन्तु कुछ असाधारण व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो इसे अपने जीवन काल में प्राप्त कर पाते हैं।

भौतिक सुख साधनों से वशीभूत होकर दौड़ने वाले इस संसार में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिला के निकट ग्राम कुर्था के स्वामी निर्वेदानन्द जी महाराज ऐसी विलक्षण महान विभूतियों के एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। गंगा के तट पर बनी एक छोटी सी कुटी में एकान्तपूर्ण सहज जीवन व्यतीत करते हुए अपनी गुरुभक्ति एवं ब्रह्मनिष्ठा के बल पर वे न केवल उस दुर्गम पथ पर चलते रहे जिसकी तुलना उपनिषदों ने तलवार की तेज धार से की है, अपितु अन्य लोगों को भी इस राह पर चलने हेतु प्रेरित किया।

स्वामी निर्वेदानन्द जी न तो कोई प्रकाण्ड विद्वान प्रतीत होते थे न

ही उन्होंने विभिन्न पुस्तक लेखन, प्रवचन, संस्था-स्थापन आदि में कोई रुचि दिखलाई। हमारे शास्त्रों ने भी कहा है कि कर्म में लिप्त सन्यासी तथा अकर्म में लीन ग्रहस्थ शोभा नहीं देता। स्वामीजी सन्यास धर्म के यथार्थस्वरूप का एक जीवन्त उदाहरण थे। सन्यास आश्रम के दो आधारस्तम्भ-पवित्रता एवं निर्धनता-मानों उनके चरित्र में मूर्तरूप हो गये दिखते थे। उनकी यह विशेषता ही उन्हें उनकी श्रेणी के महात्माओं के बीच एक विशिष्ट स्थान प्रदान करती है।

केरल प्रान्त में पालघाट जिले के चित्तूर ग्राम में २३ दिसम्बर १८२३ को जन्में वेदगिरी (स्वामी निर्वेदानन्द जी का पूर्वाश्रम का नाम) श्री लक्ष्मण अय्यर तथा श्रीमती लक्ष्मी अय्यर के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनसे छोटे पांच भाई बहन थे। उनके माता पिता अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनके घर पर आरती, भजन आदि द्वारा उसी के अनुरूप वातावरण बना रहता था। महान संतों की जीवन गाथाएं तथा धर्म ग्रंथों के पाठन से परिपूर्ण वातावरण में वेदगिरी की धर्म के प्रति आसक्ति हुई। किन्तु आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त परिवार में पले वेदगिरी को अपने शिक्षा का क्षेत्र सीमित रखना पड़ा तथा उनकी ज्ञान पिपासा तृप्त न हो सकी। इन विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने आशा की किरण ढूँढ ली तथा अपने आस पास उपलब्ध छोटी-छोटी वस्तुओं का महत्व समझना सीख लिया। यद्यपि उनके बचपन के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है फिर भी उनकी प्रतिभा का परिचय इसी से हो जाता है कि उन्होंने सीनियर कैम्ब्रिज की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। प्रखर बुद्धि तथा तीव्र लगन के धनी होने के कारण वे उच्च शिक्षा को सफलतापूर्वक ग्रहण करने तथा अपनी रुचि के कार्य क्षेत्र को चुनने में पूर्णतः सक्षम थे। परन्तु नियति को यह स्वीकार नहीं था। विधाता ने उनके हेतु एक अन्य ही भविष्य का निश्चय कर रखा था। वेदगिरी ने सीनियर कैम्ब्रिज की परीक्षा उत्तीर्ण की ही थी कि उनके पिता श्री लक्ष्मण अय्यर का देहावसान हो गया तथा ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण परिवार के पालन पोषण का उत्तरदायित्य उनके युवा कन्धों पर आ पड़ा।

सम्भवतः जीवन के आरम्भ की ये दुःखद घटनाएं वेदगिरी को जीवन की वास्तविकताओं से परिचय देने लगीं तथा उनके युवा हृदय में वैराग्य प्रदीप्त होने लगा तथा वह दिन भी दूर नहीं था जब वह एक धधकती ज्वाला में परिवर्तित होकर उनके जीवन को एक पूर्णतः भिन्न दिशा देने वाली थी।

इन परिस्थितियों में वेदगिरी अपनी जन्म भूमि छोड़कर नौकरी की खोज में निकल पड़े। परिस्थितियों के कारण शिक्षण बीच में ही छूट जाना उनके लिए अत्यधिक पीड़ादायक था परन्तु तीव्र संस्कारों का प्रवाह अवरोधों के आने पर तीव्रतम हो जाता है अतः वेदगिरी ने अपने आसपास के व्यक्तियों एवं घटनाओं से अपने सूक्ष्म विवेचन द्वारा जीवन के विभिन्न पाठ अपने पाठ्यक्रमों में जोड़ लिये तथा उनका अचेतन मन जीवन के बहुमूल्य अनुभवों को ग्रहण करने लगा। उनकी पाठशाला पुस्तकों से बाहर आकर जन-समुदाय के माध्यम से उन तक वापस आ गयी तथा उन्होंने भविष्य में एक सूक्ष्म विवेचनकर्ता बनकर जीवन के विभिन्न आयामों को अपने अनुभवों की परिधि में समेट लिया।

भारतीय सेना के चिकित्सा विभाग में कुछ दिनों तक कार्य करने के पश्चात् वेदगिरी ने बम्बई में स्थित बर्माशेल आयल डिस्ट्रिब्युटिंग कम्पनी में नौकरी कर ली। अपने वेतन का न्यूनतम भाग अपने निर्वाह पर व्यय करते हुए वह वेतन का शेष भाग अपने परिवार के निर्वाह हेतु भेज दिया करते थे। इन दिनों वह अपने बचपन के मित्र श्री वी.के. मूर्ती के साथ उनके परिवार के एक सदस्य के समान रहते थे।

धीरे-धीरे वेदगिरी बम्बई के श्री रामकृष्ण मिशन में नियमित रूप से जाने लगे तथा वहां होने वाली प्रतिदिन की आरती तथा अन्य आयोजनों में भाग लेने लगे। इसी माध्यम से उन्हें समान मनोवृत्तियों वाले नये मित्र भी मिलने लगे। श्री रामकृष्ण देव के प्रति विशेष श्रद्धाभाव होने के कारण मिशन के सन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों के साथ (जो अब मिशन के वरिष्ठ सन्यासी हैं) उनका सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। इन्हीं दिनों वह

'Gospel of Sri Ram Krishna' नामक पुस्तक अत्यधिक ध्यानपूर्वक पढ़े जिससे उनके मन के अनेकों सन्देह दूर हो गये। इस पुस्तक के महान तथा सरल उपदेशों ने उनके अन्त:करण की अध्यात्म की पौध को सिंचित किया तथा उसमें पर्याप्त वृद्धि होती गई। वेदगिरी स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन एवं साहित्य से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें पहले ही पढ़ चुके थे। बम्बई के रामकृष्ण मिशन के कार्यकलापों में भाग लेना वेदगिरी के जीवन का अभिन्न अंग बन गया था तथा इसी क्रिया ने अनजाने में ही उनके आध्यात्मिक जीवन की आधार शिला भी रखी। मिशन से ही वेदगिरी ने विभिन्न शास्त्रों के श्लोकों का उचित उच्चारण भी सीख लिया। फिर भी, अपने इस काल के आध्यात्मिक जीवन के संदर्भ में उन्होंने एक बार इस प्रकार वर्णन किया; "मैंने कभी संन्यासी बनने का विचार नहीं किया था। मेरा निश्चय केवल इतना ही था कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूंगा और सेवा-निवृत्ति के पश्चात् पेंशन पर शेष जीवन व्यतीत करूँगा।" उन्होंने अविवाहित जीवन के संकल्प के अतिरिक्त अन्य कोई दीर्घ कालीन योजना नहीं बनाई। एक बार एक बीमा एजेन्ट बीमा पालिसी के विक्रय हेतु उनके पास आये। वेदगिरी ने तुरन्त मना करते हुए विनोद में कहा "मेरे पास पहले से ही एक योजना (पालिसी) है कि मुझे कोई बीमा पालिसी नहीं लेनी है।"

अपने आसपास के व्यक्तियों तथा घटनाओं के सूक्ष्म विवेचन करने के अपने स्वभाव के कारण वह इनके द्वारा अपना ज्ञानवर्धन करते रहे। किसी ऊँची इमारत की छत अथवा रेलमार्ग के ऊपर बने पुल पर खड़े होकर बंबई के लोगों की तेज भागती भीड़ को विचारपूर्वक देखते रहना उन दिनों में उन्हें बहुत प्रिय था। अपने विवेचनात्मक स्वभाव के कारण वह हर पल हर स्थान पर कुछ न कुछ अनुभव प्राप्त कर ही लेते थे। समय-समय पर अपने अन्त:विचारों में लीन रहने हेतु उन्होने उज्जैन ओंकारेश्वर आदि की तीर्थयात्राएं भी की।

इसी प्रकार समय बीतता गया और धीरे-धीरे वेदगिरी के छोटे भाइयों

की शिक्षा पूर्ण हो गई। अपनी बहन का विवाह तय करनें में वेदगिरी को संसार के अनेक कटु अनुभवों से गुजरना पड़ा पर अन्तत: उनका यह दायित्व भी सकुशल सम्पन्न हो गया और वह अब एक प्रकार से अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने हेतु मुक्त हो गये। अब एक उत्कट आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की भावना उनके विचारों में अधिकाधिक प्रबल होती गई। कठोपनिषद् में कहा गया है:-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत –
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर:।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥

"श्रेयस (श्रेयस्कर) और प्रेयस (प्रिय) दोनों ही मनुष्य के सम्मुख होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति विचारपूर्वक उनमें भेदकर प्रेयस की अपेक्षा श्रेयस का वरण करता है; मन्द बुद्धिवाला व्यक्ति (शरीर) के योग क्षेम हेतु प्रेयस का ही वरण करता है।"

वेदगिरी ने अपनी विलक्षण बुद्धिमत्ता के कारण प्रेयस की अपेक्षा श्रेयस का ही चुनाव करने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार अपने ढंग से आध्यात्मिक साधना करने हेतु उपयुक्त स्थान की खोज आरम्भ कर दी जो उन्हें हिमालय के घने बनों में स्थित वशिष्ट गुहा के स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज के श्रीचरणों तक पहुंचाने वाली थी।

इस शताब्दी के मध्यकाल में हरिद्वार से लेकर गंगोत्री तक फैली उत्तराखंड की तपोभूमि तीन महान आध्यात्मिक विभूतियों के अस्तित्व से पावन हुई थी। ये विभूतियां थीं - उत्तरकाशी के स्वामी तपोवन जी महाराज, वशिष्ठ गुहा के स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी महाराज तथा ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्द जी महाराज। स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी श्री रामकृष्ण परमहंस देव के मानस-पुत्र एवं वरिष्ठ शिष्य तथा रामकृष्ण मिशन एवं मठ के प्रथम अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानंद जी महाराज (राजा महाराज) के शिष्य थे। स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी ने अपनी आरम्भिक साधना स्वामी निर्मलानंद जी (तुलसी

महाराज) के मार्गदर्शन में आरम्भ की। स्वामी ब्रह्मानंद जी ने उन्हें सन् १८९१६ में मंत्र दीक्षा प्रदान की तथा वर्ष १८२३ में श्रीरामकृष्ण मठ तथा मिशन के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानंद जी (महापुरुष महाराज) से उन्होंने सन्यास ग्रहण किया।

कुछ वर्षों के पश्चात स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी ऋषिकेश से बद्रीनाथ के मार्ग पर लगभग २२ किमी. की दूरी पर स्थित घने वनों से आच्छादित वशिष्ठ गुहा में पहुंचकर गहन तपस्या में रत हो गये और जीवन के अन्तिम लक्ष्य-आत्मदर्शन को प्राप्त किया। उस क्षेत्र में एक आत्मानुभवी संत के रूप में उनकी ख्याति थी। हिमालय के घने वनों में निवास करने वाले यह महान संत सैकड़ों किमी. दूर भारत के दक्षिण में स्थित केरल प्रांत में जन्में और बम्बई में कार्यरत युवा वेदगिरी के लिये सद्गुरु के रूप में प्राप्त होना नियत थे। पुष्प यदि पूर्णतः पुष्पित हो तो मधुमक्खी घने वन में भी उसे खोज ही लेती है। किसी एकान्त स्थल में कुछ दिन साधना करने के विचार से वेदगिरी अक्तूबर १८५३ में दिल्ली होकर ऋषिकेश पहुंचे। वहाँ उनकी भेंट स्वामी चिन्मयानंद जी से हुई। स्वामीजी ने उन्हें वशिष्ठ गुहा जाकर स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी के दर्शन करने हेतु प्रेरित किया। पुरुषोत्तमानंद जी के लिए उन्होंने वेदगिरी को एक पत्र भी दिया। वेदगिरी की वशिष्ठ गुहा की प्रथम यात्रा, विशेषकर स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी के प्रथम दर्शन का केवल एक ही वाक्य में वर्णन किया जा सकता है-

वे वहां पहुंचे, उन्होंने देखा और वे जीत लिये गये! उस पवित्र स्थान पर पहुंचते ही वे आनंद और भावातिरेक में डूब गये। उन्हें लगा मानों वह इस स्थान से सुपरिचित हैं। कुछ वर्षों पश्चात लिखी गई अपनी पुस्तक "At the Feet of My Guru" में उन्होंने इस प्रसंग का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। महाराज जी उस समय एक छोटी सी कुटी के सामने आराम कुर्सी पर बैठे थे। वेदगिरी ने उनके सम्मुख दंडवत किया और स्वामी चिन्मयानंदजी का परिचय पत्र उनके हाथों में दिया। पत्र पढ़ने के पश्चात महाराज जी ने स्वामी चिन्मयानंदजी के विषय में कुशल क्षेम पूछी और

कुछ समय तक अपनी स्वाभाविक बाल सुलभ विशिष्ट शैली में हंसते रहे। उनकी प्रतिक्रिया से यही भाव व्यक्त हो रहा था जैसे वे जानते हों कि वेदगिरी का मूल स्थान यही है और एक भटका हुआ बालक वापस लौट आया है। वेदगिरी को किंचित भी यह नहीं लगा कि वह किसी अपरिचित व्यक्ति के सम्मुख खड़े हैं। उन्हें प्रतीत हुआ जैसे वह अपने अतिशय निकट के किसी आत्मीय व्यक्ति के साथ हैं।

महाराज जी की अनुमति से वेदगिरी अपनी इस यात्रा के दौरान लगभग तीन सप्ताह आश्रम में रहे। यद्यपि वह अपने इस प्रवास में महाराज जी की ओर अत्यधिक आकर्षित हुए, फिर भी उन्होंने उनसे मंत्रदीक्षा प्रदान करने के विषय में कोई अनुरोध नहीं किया क्योंकि आध्यात्मिक साधना में गुरु की अनिवार्यता के बारे में उन दिनों उनके 'अपने विचार' थे। कैसा आश्चर्य है कि उन्होंने ही बाद में अपने एक पत्र में लिखा है, "सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना आध्यात्मिक साधना करना बिना पतवार के नाव खेने के समान है।"

अब वेदगिरी का महाराज जी के प्रति आकर्षण दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। परन्तु उनकी वशिष्ठ गुहा की यह प्रथम यात्रा समाप्ति की ओर थी। बंबई को प्रस्थान करने की पूर्व संध्या में वे महाराज जी के पास गये और प्रणाम कर निकट बैठ गये। वेदगिरी से यह सुनकर कि वह अगली सुबह बंबई के लिए प्रस्थान करने वाले हैं, महाराज जी मुस्कुराये और बोले, "हाँ, हाँ, मैं यह तभी जान गया था जब तुम यहाँ आये थे।" वेदगिरी शांत रहे परन्तु उनका मन प्रस्थान के कारण अतिशय दुखी एवं विचलित था। महाराज जी ने उन्हें कुछ परामर्श दिया और कुछ अन्तर्मुख होकर बोले, "हम लोग जुड़ गये हैं"। वेदगिरी हतप्रभ हो गये। उस समय वह कुछ समझ नहीं पाये। परन्तु कुछ दिनों के चिंतन के पश्चात ही उन्हें अनुमान हुआ कि महाराज जी ने उन्हें स्वीकार कर आध्यात्मिक आश्रय प्रदान किया है। दूसरे दिन प्रातः वेदगिरी अपने प्रस्थान के पूर्व महाराज जी से अनुमति लेने गये तो स्नेह और प्रेम से परिपूर्ण स्वर में

महाराज जी ने कहा कि वह उनसे प्रसन्न हैं। महाराज जी ने उन्हें धीरे-धीरे और विचारपूर्वक उपदेश देते हुए कहा:

"अपने सारे कार्य पूरी लगन के साथ करो। ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम विकसित करो।

संसार में रहो परन्तु संसार के होकर न रहो। 'मैं' और 'मेरा' की भावना छोड़कर परमेश्वर में दृढ़ श्रद्धा रखो और सब कुछ उन्हीं पर छोड़ दो। किसी बात की चिंता न करो। समय आने पर ये (भौतिक) वस्तुएं एवं कर्म स्वयं ही तुम्हें छोड़ देंगे।"

"परमेश्वर को जानने की और उनमें ही जीने की इच्छा आधी-अधूरी नहीं होनी चाहिए। यह एक बाढ़ के समान होनी चाहिए। उसका वेग और प्रवाह इतना प्रबल होना चाहिए कि समस्त पूर्व (भौतिक) संस्कार उसमें बह जाए।"

कुछ क्षण पश्चात् वे आगे बोले - "हम लोग एक हो गये हैं। क्या मैंने तुमसे यह कल ही नहीं कहा था? हम लोग जुड़ गये हैं।"

दोपहर के भोजन के पश्चात् वेदगिरी भावपूर्ण हृदय एवं अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ महाराज जी से विदा लेकर ऋषिकेश जाने वाली बस पर सवार हुए। इसके पश्चात् तीन वर्ष व तीन माह के अन्तराल पर ही उनको पुन: अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के दर्शन हो पाये।

बंबई पहुंचने के पश्चात् उन्हें नियमित रूप से पत्रों के माध्यम से महाराज जी का मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा। इन्हीं दिनों वेदगिरी ने आध्यात्मिक साधना में सद्गुरु की अनिवार्यता का अनुभव किया। इस समय तुरन्त वशिष्ठ गुहा जाना उनके लिए सम्भव नहीं था। अत: वर्ष १९५६ की गुरुपूर्णिमा दिवस की प्रात: श्री रामकृष्णदेव की प्रतिमा के सम्मुख बैठकर उन्होंने श्री पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज को मन ही मन अपना गुरु स्वीकार कर लिया तथा एक स्वचयनित मंत्र का जाप भी आरम्भ कर दिया। वेदगिरी द्वारा अपनाई गई इस विधि की सूचना पाकर महाराज जी बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने वेदगिरी को अपना शुभाशिर्वाद भेजा।

वेदगिरी की वशिष्ठ गुहा की दूसरी यात्रा फरवरी १९५७ में केवल एक सप्ताह के लिए हुई परन्तु उनके लिए यह यात्रा अतिशय महत्व की सिद्ध हुई। इस बार उनका एकमात्र उद्देश्य महाराज जी से मंत्र दीक्षा प्रदान करने हेतु प्रार्थना करना था। वेदगिरी २५ फरवरी १९५७ को वशिष्ठ गुहा पहुंचे। दूसरे दिन अर्थात २६ फरवरी को महाराज जी उनसे बोले, "तो तुम्हें मन्त्र दीक्षा चाहिए। कल शिवरात्रि है। मैं कल प्रात: तुम्हें मंत्र दीक्षा प्रदान करूँगा। आज रात को भोजन में केवल फल और दूध ही लेना और कल दीक्षा होने तक उपवास रखना।" परन्तु उसी दिन सूर्यास्त के समय महाराज जी गुहा के अन्दर जाकर अपने आसन में बैठ गये और वेदगिरी को तुरन्त भीतर आकर मंत्रदीक्षा ग्रहण करने हेतु अन्दर बुलाया तथा उन्हें इस हेतु स्नान आदि के लिए भी समय नहीं दिया। मंत्र दीक्षा प्रदान करने के पश्चात् महाराज जी बोले, "मुझे अचानक बड़ी तीव्रता से आभास हुआ कि मुझे कल के स्थान पर इसी क्षण तुम्हें मंत्र दीक्षा देनी चाहिए।" बाहर आकर महाराज जी ने पंचांग (तिथि-पत्र) मंगवाया और टिप्पणी की कि वह विशिष्ट क्षण अत्यंत शुभ था और इसी कारण वेदगिरी को उसी समय दीक्षा प्रदान करने की उन्हें प्रेरणा हुई थी। कुछ माह के पश्चात् इस घटना के संदर्भ में उन्होंने किसी से कहा था कि उस विशिष्ट मुहूर्त में मंत्रदीक्षा प्राप्त करने के कारण वेदगिरी में वैराग्य का भाव तीव्रता से विकसित हुआ जिसके फलस्वरूप इस दूसरी यात्रा की समाप्ति पर बंबई वापस पहुंचने के केवल ४० दिनों के भीतर वेदगिरी को अपना सब कुछ परित्याग कर अपने गुरुदेव के चरणों में लौट आना सम्भव हुआ।

अपनी दूसरी यात्रा के अंत में, वेदगिरी ६ मार्च की प्रात: ९.३० की बस से ऋषिकेश होकर बंबई के लिए प्रस्थान करने वाले थे। प्रात:काल में जब वे कुछ पुष्प लेकर महाराज जी के पास प्रणाम करने पहुँचे, तो महाराज जी ने मुस्कुराते हुए उनसे पूछा, "तुम कहाँ जाओगे?" उन्होंने आगे पूछा, "क्या तुम जाना चाहते हो?" वेदगिरी केवल इतना ही कह सके, "यदि महाराज जी की अनुमति हो तो मैं जाना चाहूँगा।" इसके

पश्चात् महाराज जी ने उन्हें पिछले दिन प्रदान किया मंत्र दोहराने को कहा और बोले, "परमेश्वर का स्मरण करना कभी नहीं भूलना। प्रतिदिन दो बार जप अवश्य करना। जब तक मन स्थिर न हो तथा मन की चंचलता को जप द्वारा नियंत्रित न किया जाय तब तक ध्यान में सफलता नहीं मिलती।" "परमेश्वर से प्रेम करो। वह केवल प्रेम चाहता है। भाग्यशाली हैं वे जो प्रेम कर सकते हैं - प्रेम - प्रेम।"

अन्ततः विदा की बेला आ गई। प्रातःकाल लगभग ९ बजे वेदगिरी बम्बई को प्रस्थान करने के पूर्व महाराज जी से आशीर्वाद लेने गये। महाराज जी के एक अन्य शिष्य ब्रम्हचारी वेदबन्धु तथा आश्रम के कुछ अन्य निवासी कमरे में उपस्थित थे। महाराज जी के सम्मुख वेदगिरी के दण्डवत करने पर एक हाथ से वेदगिरी को प्रेमपूर्वक थपथपाते हुए हंसकर वेद-बंधु से बोले, "देखो! यह यहां से जाना चाहता है।" महाराज जी के ये शव्द पहले से ही भावविह्वल वेदगिरी के हृदय को तीर के समान भेद गये तथा वह इस बात से बहुत लज्जित हुए कि दैनिक संसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए वह महाराज जी के निकट का दिव्य वातावरण छोड़कर बम्बई वापस लौट रहे हैं। अश्रुपूर्ण नेत्र लिये दोनों हाथ जोड़कर वह भरे गले से केवल इतना ही कह सके, "मुझे बुला लीजिए महाराज, एक बार! सदा के लिए, जिससे कि वापस लौटने का कोई विचार ही मन में न रहे। कृपा कर मुझे इस प्रकार से बुला लीजिए।"

समय के प्रवाह में बहकर वेदगिरी ११ या १२ मार्च को वापस बम्बई पहुंच गये पर अब उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व परिपक्वता की ओर तीव्रता से बढ़ रहा था। परिणामस्वरूप, बंबई लौटने के पश्चात वेदगिरी को नौकरी करना अधिकाधिक कठिन प्रतीत होने लगा। अपने गुरुदेव के सानिध्य में रहने तथा हिमालय वापस लौट जाने का विचार उन्हें बराबर सताने लगा। अविवाहित वेदगिरी अपने समस्त सांसारिक बन्धन त्यागकर आध्यात्मिक ऊँचाईयों पर पहुंचने को व्याकुल होने लगे।

इसी श्रृंखला में एक दिन २० मार्च को प्रातःकाल रामकृष्ण मिशन

के पूजागृह में ध्यान करते हुए उन्हें सहसा अपने ही अन्तःकरण से उन्हीं के शब्दों में 'हृदय की पुकार' सुनाई दी। इस पुकार से उनके मन के सन्देह दूर हो गये तथा जीवन के सर्वोच्च आश्रम-सन्यास पथ पर प्रवेश हेतु उनका मन व्याकुल होने लगा। परन्तु, बम्बई में अपनी नौकरी तथा अपने व्यक्तिगत संसार के प्रति कुछ आसक्ति अभी भी शेष रहने के कारण उनका मन कुछ अनिश्चित सा था जो अन्तिम निर्णय लेने में बाधक होने लगा। 'श्रेयस' तथा 'प्रेयस' के द्वन्द का वेदगिरी को आभास होने लगा। इस समय तक वेदगिरी को बर्मा शेल में नौकरी करते ग्यारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस नौकरी के द्वारा वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अपने परिवार के प्रति जिम्मेदारियों के निर्वाह करने में तो सक्षम तथा सफल रहे परन्तु इसके साथ ही उनके अचेतन मन ने नौकरी तथा संसार के बन्धन के सूक्ष्म संस्कारों को जन्म दे दिया जिसने उनके मन में द्वन्द की स्थिति का रूप ले लिया। भविष्य में एक बार उन्होंने उसे इस प्रकार व्यक्त भी किया, "किसी नौकरी को पाना फिर भी आसान है पर उससे निकल पाना कठिन है (यदि कोई अन्य नौकरी या व्यवसाय पहले ही उपलब्ध न हो)।" उनकी "हृदय की पुकार" सभी बन्धनों को मूल से समाप्त कर देना चाहती थी। मन की इस द्वन्दावस्था में वह अपने सद्गुरु पुरुषोत्तमानन्द जी से उचित मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु अपनी मनःस्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन पत्र में लिखने बैठ गये। परन्तु पत्र का आरम्भ करते ही उनका मन स्वतः विचारशून्य हो गया। वह केवल इतना ही लिखने में सफल हो सके, "मैं आप को बहुत कुछ लिखना चाहता था परन्तु क्या लिखूं यह नहीं जान पाया। आप सभी कुछ जानते हैं। मुझमें भक्ति और श्रद्धा दृढ़ कीजिये। जी हां, मैं केवल श्रद्धा चाहता हूँ-अधिकाधिक श्रद्धा।"

अपने मन का कुछ दिनों तक ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने के पश्चात जब उनको विश्वास हो गया कि उनकी 'हृदय की पुकार' सच्ची है और वह वास्तव में सन्यासी जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, तो उन्होंने महाराज

जी को पुनः एक पत्र लिखा (संभवतः १३ अप्रेल को) कि वह अपनी नौकरी छोड़ रहे हैं तथा १७ ता. को बंबई से प्रस्थान कर उनके चरणों में आश्रय प्राप्त करने हेतु वशिष्ठ गुहा पहुँचने की आशा करते हैं। बंबई से उनके प्रस्थान के दो दिन पूर्व, १५ अप्रेल को उन्हें महाराज जी से एक पोस्टकार्ड प्राप्त हुआ जो १३ अप्रेल का ही लिखा हुआ था। महाराज जी ने उसमें लिखा था, "हाँ, आम जब पक जाता है तब वह वृक्ष पर लगा नहीं रह सकता। उसे टूटना ही है। इसी प्रकार संसार के अनेक अनुभवों से निकलकर (जब) बुद्धि परिपक्व हो जाती है, तो वह संसार में कैसे रह सकती है। उसे परमेश्वर के चरणों में आश्रय लेना ही है। और यही सच्चा सन्यास है। अपना कार्य करते रहो और परमेश्वर धीरे-धीरे तुम्हें अपना बना लेंगे। हममें श्रद्धा और धैर्य होना चाहिए।"

'आम' पूर्णरूप से पक चुका था और उसके लिये संसार के वृक्ष से जुड़े रहना अब असंभव था। वेदगिरी अब परमात्मा के आनंदसागर में छलांग लगाने हेतु दृढ़तापूर्वक तैयार थे। सद्गुरु की कृपा और परमेश्वर की दया ने उनके समस्त सांसारिक बन्धन खोल दिये थे। वेदगिरी ने परमात्मा की ओर एक कदम बढ़ाया और अपने शाश्वत् वचन के अनुसार वह उनकी ओर दस कदम आगे बढ़ आये। वेदगिरी ने अपनी नौकरी से अन्ततः त्यागपत्र दे दिया। बंबई छोड़ने के दृढ़ निश्चय के कारण उन्होंने अपना रेल का आरक्षण किसी अन्य नाम से करवाया जिससे कि उनके निकट सम्बन्धी अथवा मित्रगण अंतिम क्षणों में उनका मन परिवर्तन करने का प्रयास न कर सकें। केवल रामकृष्ण मिशन के कुछ निवासी तथा उनके कुछ घनिष्ट मित्रों को ही उनके जाने की बात ज्ञात थी। उनके सच्चे वैराग्य की झलक पाकर ही मिशनवासियों ने उन्हें ईश्वर-चैतन्य सागर में पूर्ण प्रवेश हेतु प्रोत्साहित किया। वेदगिरी ने १७ अप्रेल १९५७ को बंबई छोड़ी और १९ अप्रेल को वशिष्ठ गुहा आश्रम पहुँच गये। वह अब परित्यागी हो गये थे। महाराज जी उनके नाम से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने वेदगिरी के पूर्वाश्रम के परित्याग के पश्चात भी उनका नाम परिवर्तन नहीं किया।

अब वेदगिरी आश्रम के दैनिक जीवन के छोटे से छोटे पहलुओं से भी परिचित होने लगे। विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन, गुरू-सेवा तथा आश्रम के छोटे-बड़े कार्यों में हाथ बँटाना, उनकी साधना में जुड़ गये थे।धीरे-धीरे वह महाराज जी के प्रिय शिष्यों में से एक हो गये। वेदगिरी के मन की महाराज जी के मन के साथ ऐसी स्वरसंगति बैठक गयी थी कि महाराज जी के कुछ कहने के पूर्व ही वह उनकी इच्छानुसार कार्य आरम्भ कर देते थे। वह महाराज जी के व्यक्तिगत सचिव के रूप में भी कार्य करते थे।

फरवरी, १९५९ में महाराज जी ने उन्हें 'संन्यास दीक्षा' के साथ ही **स्वामी निर्वेदानंद** नाम प्रदान किया।

स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी अपने सन्यासी शिष्यों को उनकी माता से, यदि वह जीवित हों, तो जब भी संभव हो उनके पास जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने को कहा करते थे। उनके आदेशानुसार, जब भी स्वामी निर्वेदानंदजी केरल में अपने जन्म स्थान की ओर जाते, वह अपने घर न जाकर, सन्यास धर्म के अनुरूप, गांव की सीमा पर माता को ही बुलवा लेते और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते!

वशिष्ठ गुहा आश्रम में स्थायी रूप से जुड़ जाने के पश्चात से वर्ष १९६१ में पुरुषोत्तमानंदजी महाराज की महासमाधि होने तक के वर्षों में, विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्राओं में व्यतीत किये दिनों को छोड़कर, स्वामीजी ने आश्रम में ही रहकर अपने सद्गुरु के मार्गदर्शन में कठिन साधना की। उन्हीं दिनों महाराज जी के निर्देश पर स्वामीजी ने उनके द्वारा मलयालम् में लिखी गयी आत्मकथा का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

आश्रम में स्वामीजी अपने संन्यासी और गृहस्थ गुरु-भाइयों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते थे। अपने एक गुरुभाई स्वामी भूमानंदजी से उन्होंने संस्कृत व्याकरण सीखी। भूमानंदजी तथा अन्य गुरुभाइयों के साथ मिलकर वे प्रायः विविध शास्त्रों की गहराईयों का आनंद लेते। स्वामी भूमानंद जी संस्कृत के महान विद्वान और महाराज जी के प्रिय शिष्यों में से थे। युवावस्था में ही उन्होंने अपने गुरु तथा गुरुभाईयों का हृदय

जीत लिया था। परन्तु कुछ ही समय के बाद वह गम्भीर रूप से बीमार हो गये। स्वामी निर्वेदानन्द जी ने उनके अन्तिम क्षण तक कनखल (हरिद्वार) स्थित रामकृष्ण मिशन में, जहां उनका इलाज चल रहा था, उनकी सतत सेवा की।

स्वामी निर्वेदानन्द जी अपने गुरुदेव के दैनिक कार्यकलापों से भी शिक्षा लेते रहे। सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के धनी होने के कारण अपने गुरुदेव के जीवन को भी उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा तथा उससे अनेक शिक्षाएं ग्रहण की। गुरुदेव की व्यक्तिगत सेवा करना उन्हें विशेष रूप से प्रिय था। उनके इस प्रकार की गुरु सेवा की उनके गुरुभाई भी प्रशंसा किया करते थे। ये सभी आश्रमवासी अपने गुरुदेव, जो उनके लिए मार्ग दर्शक, दार्शनिक तथा मित्र आदि सभी कुछ थे, के साथ एक सुगठित परिवार के रूप में रहते थे। १३ फरवरी १८६१ (महाशिवरात्रि) को स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज की महासमाधि होने तक आश्रम का सम्पूर्ण वातावरण आध्यात्मिक तरंगों से स्पंदित हुआ करता था जिसकी अनुभूति आज भी वहां होती है। अपने श्रद्धेय गुरु की महासमाधि के समय स्वामी निर्वेदानन्द जी तीर्थयात्रा के उद्देश्य से वाराणसी गये हुए थे। वशिष्ठ गुहा लौटने पर गुरुदेव की स्थूलरूप में अनुपस्थिति एक बार तो उनको झकझोर ही गई। उन्हें एक महान् रिक्तता का आभास होने लगा। आरंभ में तो वह स्वयं को भावनात्मक रूप से संभाल न सके। अपने पिता के देहावसान पर उन्होंने स्वयं को उस समय अनाथ पाया था पर इस बार उनका दुःख उससे कहीं अधिक तीव्र था क्योंकि अपने माता-पिता से उन्हें शरीर ही प्राप्त हुआ था किन्तु अपने गुरुदेव से उन्होंने 'वह' प्राप्त किया था जिसके उपरान्त कुछ भी अन्य प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। कुछ समय के लिए स्वामी जी स्तब्ध रह गये परन्तु शीघ्र ही उन्हें अपने गुरुदेव के उपदेश पुनः स्मरण होने लगे जिनके कारण गुरुदेव की स्थूल रूप में उपस्थिति के अभाव का स्थान उन सिद्धान्तों ने ले लिया जिनके प्रति गुरुदेव ने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। गुरुवाक्यों का दिव्य स्मरण स्वामी

जी के अन्तःकरण में नवजीवन का पुनः संचार करने लगा। उन्हें श्री रमण महर्षी के उपदेश भी स्मरण हो आये, "गुरु बाह्य रुप से अधिक अन्तःकरण में विद्यमान रहता है।" संशयग्रस्तों के लिए भले ही उनकी मृत्यु हो जाये किन्तु अपार श्रद्धा रखने वालों के लिए तो वह सदैव विद्यमान रहते हैं। स्वामी निर्वेदानन्द जी की अपने गुरुदेव पर सदैव ही अपार श्रद्धा रही। इसी कारण गुरुजी का स्थूल शरीर में न रहना उन्हें अधिक काल तक विचलित नहीं कर पाया।

स्वामी जी तथा उनके गुरुभाई अब उस आश्रम को अपने गुरुदेव के आदर्शों के अनुरूप चलाने हेतु विस्तृत कार्ययोजना तैयार करने में व्यस्त हो गये जिसके कण-कण को गुरुदेव ने तपोभूमि में परिवर्तित कर दिया था। आरम्भिक कुछ कठिनाईयों को दूर करने के पश्चात् सभी गुरुभाइयों ने मिलकर "पुरूषोत्तमानन्द ट्रस्ट" की स्थापना की। किन्तु स्वामी जी ने निश्चयपूर्वक 'ट्रस्टमंडल' से स्वयं को अलग रखा।

अपने गुरु का दिव्य स्मरण सदैव शांतिदायक, उल्लासित करने वाला तथा मुक्तिदायक होता है। गुरुस्मरण स्वयं में ही साधना का महत्वपूर्ण अंग है। अतः गुरुदेव की महासमाधि के पूर्व और उसके पश्चात भी स्वामीजी सदैव उन्हें अपने अंतःकरण में स्थापित किए रहे। अपने बाद के जीवन में वे कहा करते थे, "प्रत्येक साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को संपूर्ण ब्रह्माण्ड से अभिन्न समझे, परंतु अपने गुरु से स्वयं की समानता नहीं करनी चाहिए।"

वशिष्ठ गुहा में ट्रस्ट बन जाने के बाद स्वामीजी अधिक दिनों तक आश्रम में नहीं रहे। एक सन्यासी होने के कारण उन्होंने भविष्य के लिए कोई विशेष योजना नहीं बनाई थी। वशिष्ठ गुहा की अपनी पहली यात्रा के दौरान ही एक सच्चे सन्यासी के जीवन के बारे में महाराज जी के विचार से वह परिचित थे। महाराज जी ने अपने एक सन्यासी शिष्य के संदर्भ में कहा था, "सन्यासी को अकेले ही रहकर साधना करनी चाहिए। दूसरों पर आश्रित होकर रहने से कठिनाईयों का अनुभव नहीं हो पाता।

सन्यासियों के लिए किसी स्थापित आश्रम में अधिक समय तक रहना उचित नहीं है। उन्हें बाहर निकल कर जीवन का उसके वास्तविक रूप में स्वयं ही अनुभव प्राप्त करना चाहिए। तभी वे संसार को उसके यथार्थ रूप में जान सकेंगे।'' इस संबंध में स्वामीजी ने अपने आदर्श का उल्लेख अनेक वर्षों पश्चात एक पत्र में इस प्रकार किया था:

पंचाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः ।।
भिक्षाशना दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ।।

''वे लोग वास्तव में भाग्यशाली हैं, जो मात्र कौपीन धारण कर, पवित्र पंचाक्षर मंत्र का जप और हृदय में भगवान पशुपति (शिव) का ध्यान करते हुए देह के पोषण हेतु केवल भिक्षा पर निर्भर रहकर चारों दिशाओं में मुक्त विचरण करते हैं।''

इस कारण, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि श्री पुरुषोत्तमानंदजी की महासमाधि के कुछ ही दिनों पश्चात स्वामीजी बिना किसी आसक्ति अथवा भौतिक संपत्ति के, एक परिव्राज्रक के रूप में वशिष्ठ गुहा से निकल पड़े। इस काल में उन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष का समय महाराष्ट्र में नासिक के निकट किसी स्थान पर बिताया। अपने इस परिभ्रमण काल में उन्होंने देश भर में विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्राएं की। इसी प्रकार की एक यात्रा के दौरान वर्ष १८६६ में घूमते-घूमते वह वाराणसी पहुंचे। वाराणसी में गाजीपुर के किसी व्यक्ति से उनकी भेंट हुई। गाजीपुर का नाम सुनते ही स्वामीजी को अपने आरम्भिक जीवन में पढ़े हुए विवेकानंद साहित्य का स्मरण हो आया। गाजीपुर में स्वामी विवेकानंद जी की पवहारी बाबा से हुई भेंट का प्रसंग उनको स्मरण हो आया और वे गाजीपुर जाकर पवहारी बाबा का आश्रम देखने के लिए उत्सुक हो गये।

गाजीपुर, वाराणसी से लगभग ७५ किलोमीटर उत्तर में उत्तराभिमुख गंगाजी के किनारे बसा छोटा सा शहर है। पुरातन काल से ही गाजीपुर के आसपास का क्षेत्र आध्यात्मिक साधना हेतु विशेष रूप से उपयुक्त माना जाता रहा है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार गाजीपुर पूर्वकाल

में महर्षि विश्वामित्र के पिता महाराज गाधि का राज्य (गाधिपुर) तथा साधनास्थली थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गाजीपुर के क्षेत्र को प्रसिद्ध संत पवहारी बाबा ने अपने अस्तित्व से पावन किया था। श्री रामकृष्ण परमहंस के समकालीन पवहारी बाबा ने गाजीपुर से ४ किलोमीटर दक्षिण में स्थित कुर्था ग्राम को अपनी तपोभूमि के रूप में चुना था। श्री रामकृष्ण का भौतिक शरीर छूट जाने के पश्चात एक परिव्राजक सन्यासी के रूप में स्वामी विवेकानंद जी गाजीपुर आकर बाबाजी के साथ कई दिन बिताये थे। पवहारी बाबा जी के प्रति विवेकानंद जी के मन में आजीवन नितान्त आदर रहा और उनके हृदय में रामकृष्ण देव के पश्चात् बाबाजी का ही स्थान था। पवहारी बाबा जी की समाधि कुर्था ग्राम में आज भी विद्यमान है तथा देश के कोने-कोने से दर्शनार्थी वहां आते रहते हैं। अपने मन में इस पुण्य स्थल का दर्शन करने की इच्छा से वर्ष १८६६ में किसी समय स्वामी निर्वेदानंद जी कुर्था पहुंचे। कुर्था पहुंचने पर वहां के शांत और एकान्त वातावरण से आकर्षित होकर उन्होंने कुछ दिन वहीं रहने का निश्चय किया। कुर्था के निकट गंगाजी की मुख्य धारा और गांव के बीच से एक नाला बहता है। इस नाले के पार जाने के लिए कुछ पेड़ के तने इत्यादि डालकर बनाया हुआ अस्थाई पुल ही हुआ करता था। अतः गंगा जी की मुख्य धारा तथा इस नाले के बीच का परिसर गांव की गतिविधियों से निर्विघ्न रहा करता था। ग्रामवासियों के आग्रह पर स्वामीजी ने इस स्थान को अपनी साधना स्थली के रूप में चुना। ग्राम कुर्था के निवासी पहले से ही साधु-सेवा की परम्परा से जुड़े हुए थे क्योंकि यह क्षेत्र समय-समय पर साधु-आगमन से पवित्र होता रहता था। आधुनिक सभ्यता से दूर तथा साधु-समागम द्वारा पवित्र इन ग्रामवासियों की सरलता तथा सेवा-भावना ने स्वामी जी के निर्मल आध्यात्मिक हृदय में अपना स्थान बना लिया। उनके निवास हेतु एक विशाल वृक्ष के नीचे एक छोटी सी कच्ची कुटिया बना दी गई। भौतिक सुख-साधनों की परिधि से अत्यन्त परे यह कुटिया स्वामी जी की आदर्श तपस्या-स्थली बन गई।

अपने शरीर निर्वाह हेतु वह प्रतिदिन गांव से सन्यास-धर्म के अनुरूप भिक्षा प्राप्त करते रहे तथा इस नियम का उन्होंने वहां के अपने पूरे लम्बे प्रवास में पालन किया जिसके फलस्वरूप उनकी ईश्वर-निर्भरता तथा अपने गुरुदेव पर श्रद्धा दिनोंदिन बढ़ती गई। इस मार्ग में आने वाली अनेक भौतिक कठिनाइयां उनके आध्यात्मिक आनन्द के समक्ष सिर झुकाने लगीं। कृषि योग्य खेतों के खुले मैदान में उनका निवास ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत इन तीनों मौसमों में शारीरिक कष्ट की दृष्टि से कल्पना से परे था पर इन सबको उन्होंने साधु-जीवन तथा तपस्या के एक अंग के रूप में सहर्ष स्वीकार किया। उन्होंने अपने नोट-बुक में अंकित भी किया है कि "आध्यात्मिक प्याले में ग्रहण किया गया दुःख या कष्ट भी एक आनन्द है।"

इस प्रकार लगभग पांच वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् पास के ही एक खेत में उनके लिए एक छोटी पक्की कुटिया बना दी गई जिसमें उन्होंने आने वाले लगभग पन्द्रह वर्षों तक निवास किया। स्वामीजी के प्रवास से पवित्र उनकी कुटी के आसपास का वातावरण सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों से व्याप्त रहता था जिसका आभास अनुभवकर्ताओं की दिव्य-निधि बन जाती थी। स्वामीजी का पवित्र सानिध्य पाकर कुर्था ग्रामवासी अपने ग्राम की पवित्रता पर आनन्दित रहने लगे। उनके आध्यात्मिक चरित्र के सूक्ष्म आकर्षण ने ग्राम कुर्था के सभी महिलाओं, पुरुषों तथा बच्चों को उन्हें अचेतन रूप से "महाराज जी" के नाम से सम्बोधन करने को बाध्य कर दिया। स्वामीजी के समक्ष अपने अनेक व्यक्तिगत समस्याओं का वर्णन करते ही उनके स्वतः समाधान का आभास ग्रामवासियों को होने लगा।

स्वामी जी की कुटिया के निकट ही बनी दो अन्य कुटियों में एक दंडी स्वामी तथा एक ब्रम्हचारीजी का निवास था। आध्यात्मिक-पथ पर इन तीनों का परिचलन इनके आपस में परस्पर सहयोग से होता रहता था। एक ही पथ के पथिक होने के कारण इनका आपस में अत्यधिक तालमेल रहता था तथा पवित्रता एवं वैराग्य तो मानो साक्षात् रूप में वहां

निवास करते थे।

दंडी स्वामी वर्ष १९८१ में गम्भीर रूप से बीमार हो गये। स्वामीजी ने आठों प्रहर उनकी सेवा स्वयं की तथा अन्य लोगों को भी उनकी सेवा एक सन्यासी के उपयुक्त करने में मार्ग-दर्शन किया। दंडी स्वामी की महासमाधि के पश्चात् उनकी जल-समाधि आदि की व्यवस्था स्वामी जी की ही देख-रेख में सम्पन्न हुई।

स्वामीजी की कुटिया सादगी एवं स्वच्छता के प्रतीक के रूप में एक आदर्श थी। कुटी में केवल न्यूनतम आवश्यकता की वस्तुएं जैसे लकड़ी का आसन, मिट्टी का घड़ा, कुछ वस्त्र तथा तीन-चार पुस्तकें आदि ही विद्यमान दिखती थीं। चाय के शौक ने उन्हें एक स्टोव रखने हेतु बाध्य कर दिया था। केवल इन्हीं वस्तुओं के साथ निर्वाह करने पर भी स्वामीजी पुराने समय के तपस्वियों की तुलना में स्वयं को एक आराम-तलब साधु कहते थे। उनके द्वारा स्वयं पर की गई ऐसी ही कुछ सहज टिप्पणियां उनके उच्च व्यक्तित्व का आभास दिलाती थीं।

साधु-जीवन के अनुरूप स्वामीजी की दिनचर्या प्रातः काल २.३० से प्रारम्भ होकर रात्रि १० बजे समाप्त होती थी। उनके दैनिक कार्य-कलाप ईश्वर-चिन्तन में लीन होते थे जिसका अन्य लोग केवल आभास ही पा सकते थे। वेदान्त की ऊँचाइयों का दैनिक व्यवहार में अवतरण स्वामीजी के नित्य स्वभाव का अभिन्न अंग था। इसी कारण उनके व्यक्तित्व का अचेतन आकर्षण सभी में बना रहता था। उनके सरल दैनिक कार्य-कलाप अद्वैतवाद को व्यवहारिक रूप देते थे। रात्रि में निद्रावस्था में जाने से पूर्व वह अपने गुरूमहाराज का स्मरण करना नहीं भूलते थे जिससे कि अगली प्रातः से आरम्भ होने वाली उनकी दिनचर्या गुरूमहाराज जी के स्मरण के साथ ही आरम्भ हो सके। उनकी साधना पद्धति एक रहस्य ही बनी रही जो केवल उन्हीं को ज्ञात थी। कठिन तपस्या से प्राप्त आध्यात्मिक मोतियों को अपने सरल दैनिक व्यवहार में बिखेरकर वह शिक्षित एवं अशिक्षित आगन्तुकों के हृदय अचेतन रूप से जीत लेते थे। वह प्रत्येक

समय एक शांत, प्रसन्नचित्त एवं मित्रवत साधु के रूप में अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों को व्यवहारिक रूप देते रहे। इसी कारण लघुशिक्षित तथा अशिक्षित ग्रामवासी भी उनमें एक ऐसा साधु देखते थे जो उनका अपना ही था।

स्वामीजी को कभी यह स्वीकार नहीं था कि कोई व्यक्ति स्वयं असुविधा उठाकर उनकी सेवा करे। अपने मित्रों तथा प्रशंसकों की सीमाओं का उन्हें अत्यधिक ध्यान रहता था। इस कारण वह किसी पर कोई बोझ स्वयं के कारण नहीं पड़ने देते थे भले ही कोई भेंट उनकी सेवार्थ स्वेच्छा से ही प्रस्तुत की गई हो। पर इस प्रयास में किसी की भावनाओं को आघात न पहुँचाने हेतु भी वह पूर्ण सावधानी रखते थे। कई बार अपने अनुयायियों को उनकी सेवा हेतु अपने परिवार के उत्तरदायित्व के प्रति किंचित भी लापरवाह होते प्रतीत होने पर उन्हें स्वामीजी की फटकार भी सुननी पड़ती।

एक बार कुर्था के एकान्तवास के दौरान स्वामीजी मानसिक रूप से वशिष्ठ गुहा में अपने गुरूजी के सानिध्य में बिताये अपने आनन्दमय दिनों के पुन: स्मरण में पहुंच गये। गुरूजी के भौतिक रूप में अब उपलब्ध न होने के कारण उनके आंसू बह निकले। उसी क्षण उन्हें गुरूजी का शांतिप्रदायक स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ा, ''क्या तुम सोचते हो मैं चला गया हूं?'' इस घटना के साथ ही स्वामीजी की अपने गुरुदेव के साथ नित्य-सानिध्य की भावना सदैव के लिए अत्यन्त दृढ़ हो गई।

स्वामीजी खेतों में स्थित जिस पक्की कुटिया में रहते थे उसके बाहर न तो कोई चार-दीवारी थी न कोई बरामदा था जिसके कारण ग्रीष्म काल में सूर्य की तीव्र किरणें सीधी दीवाल पर पड़ने के फलस्वरूप कुटी असहनीय रूप से गर्म हो जाया करती थी। अत: गर्मी में दोपहर का समय स्वामीजी केवल एक कौपीन धारण कर किसी प्रकार व्यतीत करते थे। अत: सन् १८८५ में कुछ ग्रामवासियों ने कुटी के सामने के भाग में एक बरामदा बनाने का विचार स्वामीजी के समक्ष प्रकट किया जिससे कि कुटी का

सूर्य की सीधी किरणों तथा गर्म हवाओं से कुछ सीमा तक बचाव हो सके। इस निर्माण कार्य के विषय में स्वामी जी से निर्देश मांगे जाने पर उन्होंने यह कहकर मना कर दिया, ''मैं इस कुटिया में रहता अवश्य हूं पर यह मेरी नहीं है। अत: इस प्रस्तावित निर्माण कार्य के विषय में कुछ नहीं कह सकता।'' स्वामीजी के जीवन में इस प्रकार की अनेक घटनाएं हैं जो उनमें विद्यमान वैराग्य की तीव्रता को अंकित करती हैं। स्वामीजी जब कुछ दिनों के लिए उत्तरकाशी गये तो ग्रामवासियों द्वारा कुटी में बरामदा बनवा दिया गया।कुर्था वापस लौटने पर स्वामीजी ने उस समय ग्रामवासियों की भावनाओं का आदर करते हुए उनके कार्य की प्रशंसा की।

स्वामीजी सभी कार्यकलापों में अपने सात्विक अहं को भी प्रकट नहीं होने देते थे। अपने भक्तों या शिष्यों का अन्य लोगों से परिचय अपने मित्र के रूप में करवाते थे, जिस पर एक बार उनके एक शिष्य ने आपत्ति भी की थी। स्वामीजी ने उत्तर दिया, ''क्या तुम चाहते हो कि मैं अन्य लोगों को कहूं कि तुम मेरे मित्र के अतिरिक्त अन्य कोई हो? मैं भक्त शब्द का भी प्रयोग नहीं कर सकता क्योंकि इसका अर्थ अन्य लोग 'मेरा भक्त' के रूप में लेंगे।''

कुर्था में स्वामीजी का जीवन इतना सरल एवं शांत था कि सन् १८६६ से सन् १८८६ तक के दो दशकों में उनके जीवन से ''घटनाएं'' खोज पाना कठिन है। इन वर्षों में स्वामीजी ने विभिन्न तीर्थयात्रायें की जिनमें से अधिकतर स्थानों का सम्बन्ध उनकी आध्यात्मिक परम्परा की दो महान् विभूतियों श्री रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानंद जी के जीवन से था। तीर्थयात्रा पर जाने का अपना कार्यक्रम वह प्रस्थान के दिन तक अघोषित ही रखते थे। कई वर्षों बाद इसका कारण उन्होंने बताया कि यदि वह अपना कार्यक्रम पहले से ही घोषित कर देते तो लोग यात्रा हेतु धनराशि देने का प्रयत्न करते जिसे अस्वीकार करने पर उनकी भावनाओं को ठेस पहुंचती। स्वामीजी धन को विनोद में 'विटामिन एम' (एम=Money) कहा करते थे और व्यक्तिगत उपयोग के लिए विटामिन के समान ही

जितना आवश्यक हो उतना ही धन स्वीकार करते थे।

स्वामीजी वशिष्ठ गुहा आश्रम को सदैव ही अपना मुख्यालय मानते थे यद्यपि अपने गुरुदेव की महासमाधि के पश्चात उन्होंने स्वयं को किसी आश्रम से जोड़कर नहीं रखा था। परन्तु साथ ही वह स्वयं को ज्ञात अन्य आश्रमों के कल्याण कार्यों में भी रुचि रखते थे। जब भी उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके गुरुभाई अथवा अन्य किसी साधु के आश्रम की मरम्मत अथवा निर्माण कार्य हेतु धन की आवश्यकता है, तो उन्होंने अपने गृहस्थ मित्रों को इस कार्य में सहयोग करने हेतु पत्र लिखे। ऐसे ही किसी अवसर पर उन्होंने एक भक्त को लिखा था, "यह पूर्णरूप से आप पर निर्भर करता है कि आप (धन) भेजें अथवा नहीं-परन्तु इस प्रकार के कार्य साधुसेवा हैं जो कि साधकों के लिए अनिवार्य हैं।" जब भी स्वामीजी किसी आश्रम में जाकर रहते, वहां के नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करते। अपने गुरु महाराज के वचन "विचार करो, विचार करो-दूसरों के हित का" उनके स्वभाव की गहराइयों तक पहुंच गये थे।

अपने कुर्था प्रवास में स्वामीजी वशिष्ठ गुहा आश्रम के कार्यकलापों में मनःपूर्वक रुचि लिया करते थे तथा अवसर के अनुरूप अपने अमूल्य सुझाव भी दिया करते थे। परन्तु आश्रम के प्रबन्धन में सीधे हस्तक्षेप से उन्होंने स्वयं को अलग ही रखा। जब भी वे हिमालय में अपने लघु प्रवास हेतु ऋषिकेश होकर गुजरते, कुछ समय निकालकर वशिष्ट गुहा अवश्य जाते। स्वामीजी ने अपने गुरुदेव के जीवन तथा उपदेशों के विषय में कई पुस्तकें प्रकाशित कीं तथा उन्हें वितरण हेतु आश्रम में भिजवा देते थे। इनमें से कुछ हैं-A Peep into the Gita, Guide to Spritual Aspirants, Spritiual Talks. इनके अतिरिक्त उन्होंने गुरुदेव के साथ अपने संस्मरण "At the feet of my Guru" नामक पुस्तक में प्रकाशित किये।

कुर्था में उनकी कुटी में उनसे मिलने हेतु आने वाले व्यक्तियों के अन्तःकरण को स्वामीजी बिना कुछ विशेष आध्यात्मिक चर्चा के ही उन्हीं तरंगों से

भर दिया करते थे। अनेक बार आगन्तुक व्यक्तियों के मन को संशयग्रस्त करने वाली संसारिक अथवा आध्यात्मिक समस्याओं की ग्रन्थियां उनके सानिघ्य मात्र से स्वतः ही खुल जाती थीं। उनके आसपास का आध्यात्मिक वातावरण किसी भी उलझाने वाली समस्या को कम से कम उस समय तक के लिए अर्थहीन कर ही देता था।

अनेक अवसरों पर स्वामीजी साधकों को भजन आदि के रिकार्ड सुनने की अपेक्षा उन्हें स्वयं ही गाने का सुझाव दिया करते थे, भले ही वे भजन किसी सुविख्यात गायक द्वारा ही क्यों न गाये गये हों। वे कहते थे, "जैसे ही हम भजन के रिकार्ड सुनते हैं, हम उसमें निहित संगीत, राग, स्वर आदि का आनन्द लेने लगते हैं जिसके परिणाम स्वरूप हम भजन की मुख्य भावना से विरत हो जाते हैं।"

एक अन्य अवसर पर गीता या अन्य शास्त्रों के अध्ययन की विधि पर प्रकाश डालते उन्होंने कहा: "एक साथ पूरे श्लोक का अर्थ ग्रहण करने से पहले उसका एक-एक भाग पढ़कर उसकी गहराइयों पर विचार करना चाहिए तभी श्लोक का ठीक ढंग से अर्थ मिल पाता है।" इसी प्रकार एक अन्य सन्दर्भ में उन्होंने कहा था- "साधक को मूल रूप से एक ही गुरु से जुड़े रहना चाहिए अन्यथा उसका परिणाम उस व्यक्ति के समान होता है जो कई स्थान पर थोड़ा-थोड़ा कुआं खोदता जाता है पर उसे जल कहीं नहीं मिलता।" उन्होंने साधकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया कि शास्त्रों आदि में जो दृष्टांत दिये जाते हैं उनके शाब्दिक अर्थ का अधिक मन्थन नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका प्रयोग सम्बन्धित विषय के किसी विशिष्ट भाव को ही समझाने के लिए किया जाता है। जैसे किसी सुन्दर स्त्री के मुख को चन्द्रमा की उपमा दिये जाने पर चन्द्रमा में उपस्थित धब्बे का ध्यान नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार अनेक विषयों पर स्वामीजी के विचार एवं उपदेश उनकी सामान्य एवं अनौपचारिक चर्चाओं में ही व्यक्त होते रहते थे। जिस प्रकार उनके स्वयं की साधना बाह्यरूप में प्रकट नहीं होती थी उसी प्रकार उनकी 'शिक्षण-पद्धति' भी अप्रत्यक्ष

रूप में तथा अनूठी होती थी। लोग स्वयं ही उनके पास आते थे तथा उनके आकर्षक व्यक्तित्व से मोहित होकर उनके प्रशंसक बनकर ही वापस जाते थे। स्वामीजी ने स्वयं को सदैव ही उपदेशक की अपेक्षा साधक ही समझा परन्तु उनके सम्पर्क में आने वालों ने उनकी 'साधना' तथा 'सीखने' के ढंग से दैनिक कार्यकलापों से लेकर शुद्ध अद्वैत के रहस्यों तक की शिक्षा अचेतन रूप से ग्रहण की। शिक्षा के इस संचार का आभास आगन्तुकों को स्वयं भी नहीं होता था। स्वामीजी विभिन्न व्यवहारिक विषयों पर गहराई से चर्चा करने में पूर्ण सक्षम थे। उनके ज्ञान के विभिन्न आयामों को देखकर सभी आश्चर्यचकित रह जाते थे। स्वामीजी के प्रशंसकों में प्रशासक, वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर, शिक्षक आदि सभी प्रकार के लोग थे तथा स्वामीजी उन सभी लोगों की व्यवसायिक कार्यप्रणाली की जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकतापूर्वक रुचि लेते थे। इसके साथ ही वह ग्राम कुर्था के लघुशिक्षित तथा अशिक्षित परन्तु शुद्ध हृदय वाले ग्रामीणों के लिए उनके अन्तरंग तथा 'व्यक्तिगत' साधु थे। उनके सानिध्य में आते ही सभी का मन स्वत: ही शांत व आनन्दित हो जाता था पर उनके मूल स्रोत पर एक व्यवहारिक आवरण सभी के लिए रहता था जिससे अधिकतर लोग स्वामीजी की आध्यात्मिक गहराइयों का अनुमान लगाने में असफल रहे। सभी से अत्यन्त मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी स्वामीजी सन्यास धर्म की गरिमाओं का स्वयं भी पूरा ध्यान रखते थे तथा अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों को भी इसका अहसास कराते रहते थे। जिन मूल्यों व आदर्शों के लिए उन्होंने बम्बई से वशिष्ट-गुहा की राह पकड़ी थी, उनका विस्मरण उन्होंने कभी किन्चित मात्र भी नहीं होने दिया।

स्वामीजी को सुन्दर, शांत एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण विभिन्न स्थानों में विचरण तथा कुछ समय तक वहां प्रवास करने का पूरा शौक था, जिसकी पूर्ति वह समय-समय पर गाजीपुर से बाहर जाकर किया भी करते थे। परन्तु इसके विपरीत एक समय पर उन्होंने सामान्य चर्चा के दौरान कहा : ''मेरा अपना यह नियम है कि यदि कोई व्यक्ति किसी

स्थान विशेष के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अत्यधिक करता है तो मेरा पहला निश्चय यह होता है कि मुझे उस स्थान पर नहीं जाना।'' स्वामीजी के ये सरल वाक्य उनके अपने मन पर नियंत्रण तथा आत्मस्वरूप पर दृढ़ प्रतिष्ठान की सूचना देते थे। इस प्रकार के विभिन्न अवसरों पर गेरूआ वस्त्र उनके **अन्तःकरण** के सन्यास के प्रतिबिम्ब मात्र प्रतीत होते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वामीजी ने कभी प्रवचन, व्याख्यान इत्यादि नहीं दिये। तीन 'व' जिन पर वे सबसे अधिक जोर दिया करते थे, वे हैं-विचार, विवेक तथा वैराग्य। स्थूल रूप से जिसे हम भजन, पूजन इत्यादि कहते हैं, उन्हें करते हुए स्वामीजी को शायद ही किसी ने देखा हो। वास्तव में, साधना की आरम्भिक अवस्था में ही साधक 'कर्म' और 'पूजन' में भेद देखता है। आगे चलकर कर्म ही पूजा बन जाता है और अंत में तो संपूर्ण जीवन ही परमेश्वर का अखंड पूजन हो जाता है तथा जीवन में पूजन के अलावा अन्य कुछ शेष ही नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति का भाव, ''यद् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शंभो तवाराधनम्'' जैसा ही हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखी हुई अपनी टीका 'ज्ञानेश्वरी' में संत ज्ञानेश्वर जी ने ज्ञानी भक्त के लक्षण समझाते हुए कहा है, (भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं) ''सागर की लहर जिस प्रकार सागर से सदैव अभिन्न ही होती है, उसी प्रकार भक्त किसी भी अवस्था में परमेश्वर से भिन्न नहीं होता।'' वे आगे कहते हैं, ''ऐसी अवस्था में देहस्वभाव के कारण वह किसी भी प्रकार का कार्य करे, उसके द्वारा वह मेरे को ही (श्रीकृष्ण अथवा आत्मस्वरूप को) प्राप्त होता है। हे पार्थ, इस प्रकार से अपने समस्त उत्तम कार्यों में उसका स्वयं कुछ न करने जैसे मानना ही उसके द्वारा किया गया मेरा महान पूजन होता है। फिर वह जो कुछ भी बोले, वही मेरा स्तवन हो जाता है, जो कुछ भी देखे वह मेरा दर्शन, कहीं भी भ्रमण करे वही मेरी परिक्रमा और जो भी कल्पना करे वही मेरा जप हो जाता है। हे कपिध्वज (अर्जुन), ऐसे ज्ञानी भक्त का सहज स्थिति

में होकर रहना ही मेरी समाधि अवस्था बन जाती है।" स्वामीजी के जीवन से इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

स्वामीजी के महान व्यक्तित्व की एक महत्वपूर्ण झलक उनकी अतिशय उच्चकोटि की गुरु भक्ति में मिलती है। उन्होंने स्वयं को अपने सद्गुरु की गोद में एक खेलते बालक से अधिक कुछ नहीं समझा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वह जीवन भर स्वयं की पुस्तकों की अपेक्षा अपने गुरुदेव की पुस्तकें प्रकाशित करवाने के लिए अधिक प्रयासरत रहे। अपने गिने-चुने शिष्यों को मंत्र दीक्षा देते समय भी उन्होंने स्वयं को कुछ भी श्रेय नहीं दिया। वह कहा करते थे कि दीक्षा देते समय मैं श्री रामकृष्ण देव और गुरुमहाराज से यही प्रार्थना करता हूँ कि "ये आपके बालक हैं, संसार के वन में रास्ता भूलकर ये भटक रहे थे। मैं इन्हें आपके पास ले आया हूँ। कृपापूर्वक इन्हें अपने आश्रय में स्वीकार करें।"

एक बार उनके एक शिष्य को विदेश यात्रा पर जाना था और उसने प्रस्थान के पूर्व पत्र लिखकर स्वामीजी से आशीर्वाद देने की विनती की। स्वामीजी ने अपनी शुभकामनाओं के अतिरिक्त साथ में रखकर ले जाने के लिए एक छोटी सी फोटो भेजी जो उनकी स्वयं की नहीं वरन उनके गुरु महाराज की थी।

स्वामीजी कम बोलने वाले व्यक्ति थे। प्राय: वह केवल एक छोटी सी टिप्पणी से आगन्तुक के मन का शंका समाधान कर दिया करते थे। एक बार एक शिष्य ने आशंका प्रकट की कि धनुष से छूटे हुए तीर को जिस प्रकार से लक्ष्य तक पहुंचने के पहले मार्ग में ही रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार से हमारे पूर्व कर्म निश्चित रूप से हमारे वर्तमान और भविष्य को प्रभावित करते रहते हैं। स्वयं को उनके प्रभाव से कैसे बचाया जाए? स्वामीजी केवल इतना ही बोले, "लक्ष्य को हटा लो।" अर्थात, अपने सारे कर्मों से कर्ता तथा भोक्ता भाव (अहम्) को हटा लो। स्वामीजी का स्वयं का जीवन ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण था।

आध्यात्मिक शंकाओं का समाधान करने के साथ-साथ स्वामीजी

सांसारिक समस्याओं के संबंध में बड़ा व्यवहारिक परामर्श देते थे और मार्ग की कठिन बाधाओं के प्रति सावधान किया करते थे। अपने पूर्वाश्रम में कार्यालयीन जीवन का पर्याप्त अनुभव होने के कारण उनको किसी भी संस्थान में नौकरी करते समय व्यक्ति को त्रस्त करने वाले मानसिक उद्वेग और तनाव का पूरा ज्ञान था। इस प्रकार के तनाव के बारे में उनका केवल इतना ही कहना था कि हम स्वयं को जितना अधिक उलझायेंगे, उतने ही अधिक प्रताड़ित किये जाएंगे। स्वामीजी ने अपने सम्पर्क में आये लोगों को यह भी सिखाया कि हमारे प्रियजनों के निधन को किस प्रकार सहज रूप से स्वीकार करना चाहिए। एक बार जब उन्हें अपने एक शिष्य की माता के देहावसान का समाचार प्राप्त हुआ तो उन्होंने तुरन्त उसे सहानुभूति तथा प्रेम से परिपूर्ण पत्र लिखा। परन्तु कुछ ही दिनों के पश्चात् जब वही शिष्य उनसे मिलने गाजीपुर गया तथा तीन या चार दिन उनके सानिध्य में रहा तब स्वामीजी ने एक बार भी उस विषय में चर्चा तक नहीं की। जीवन के इन स्वभाविक एवं अनिवार्य प्रसंगों को व्यर्थ ही अत्यधिक मूल्य दिये बिना उन्हें स्वीकार करने हेतु उनके संदेश की यह मूक शैली थी।

एक बार स्वामीजी के भ्रमण काल में उनके लखनऊ प्रवास के समय कुछ वरिष्ठ वैज्ञानिक उनसे प्रथम भेंट हेतु उनके पास पधारे। निज-उत्सुकतावश उन लोगों ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, श्रद्धा किसे कहते हैं?" स्वामीजी ने तत्काल सहज रूप से उत्तर दिया, "आप लोग व्यक्तिगत रूप से मुझसे पूर्व-परिचित नहीं हैं तथा मुझसे अत्यन्त उच्च शिक्षा प्राप्त भी हैं। फिर भी आप लोगों ने मेरे समीप आते ही गेरुये वस्त्र धारण किये देखकर मुझे प्रणाम कर मेरे चरण स्पर्श किये। श्रद्धा इसी को कहते हैं।" सहज संवाद में अपने गहन सन्देश दूसरों में प्रवाहित करने की उनकी यह दूसरी शैली थी।
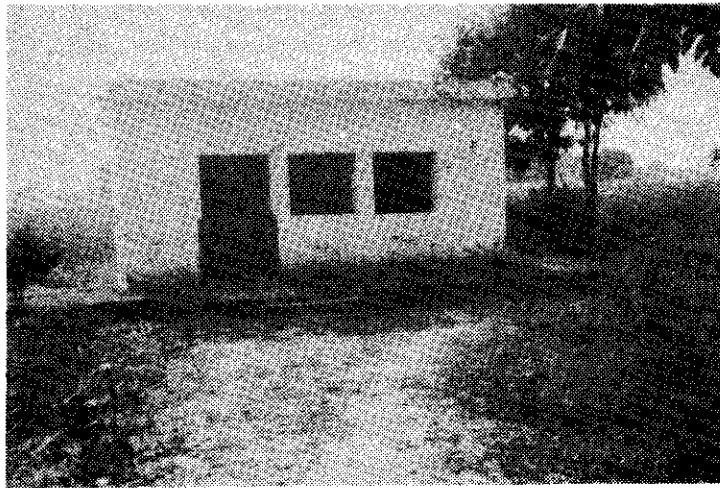
ग्राम कुर्था में स्वामी जी की कुंटिया
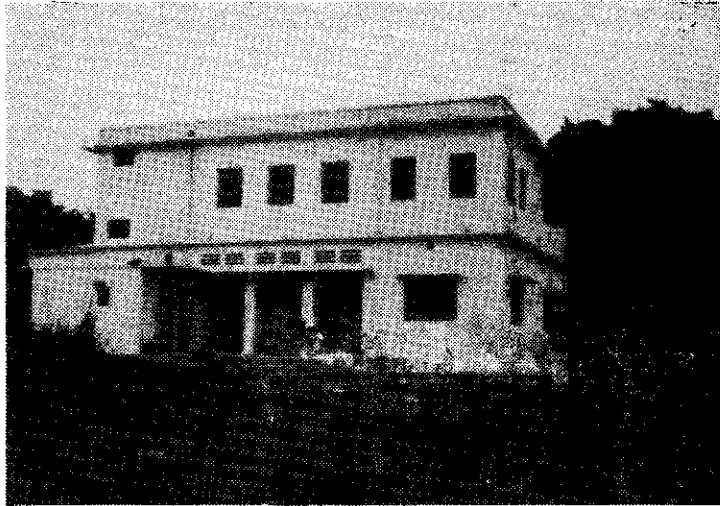
गाजीपुर स्थित मानव सेवा संघ के भवन का एक खंड जो अस्वस्थता के दिनों मे स्वामी जी का निवास स्थान रहा

II

अक्टूबर, १९८९ में स्वामीजी ने अपने गुरुदेव से सम्बन्धित किसी पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में लखनऊ होकर बंबई जाने का कार्यक्रम बनाया। उनका स्वास्थ्य इन दिनों ठीक नहीं चल रहा था। लखनऊ में, उन्होंने पीठ और कमर में निरन्तर दर्द की शिकायत की थी। इसे अनेक लोगों को होने वाली लम्बेंगो-सियाटिका की बीमारी समझकर उसी के निवारण के लिए दवाइयाँ आदि उनको दी गई। कुछ आराम मिला, परन्तु दर्द बना रहा। एक रविवार को दोपहर के बाद उल्टियाँ होकर कम रक्तचाप से अचानक तबियत बिगड़ गई। तुरन्त इलाज शुरु हुआ और स्वास्थ्य के शुभ लक्षण मिलने लगे। कुछ दिनों के विश्राम के पश्चात् स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ और वे बम्बई के लिए प्रस्थान कर गये। हालाँकि उन्होंने उस समय किसी से कुछ नहीं कहा परन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि जब उन्होंने लखनऊ छोड़ा, उन्हें अत्यधिक शारीरिक पीड़ा हो रही थी।

बम्बई में, स्वामीजी के मित्रों की प्रेमपूर्ण देख-रेख में डॉक्टरों ने उनके सभी आवश्यक परीक्षण किये। परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि स्वामीजी बोन-मैरो कैंसर (मल्टिपल माइलोमा) से ग्रस्त थे। रोग गम्भीर रूप धारण कर चुका था। स्वामीजी ने इसे अपने सन्यास धर्म के अनुरूप सहज भाव से स्वीकार किया, परन्तु साथ में आवश्यक चिकित्सा के लिए पूरे मन से अपने को तैयार किया। टाटा मेमोरियल कैंसर हॉस्पिटल में डॉ. आर.गोपाल के निर्देशन में रेडिएशन थेरेपि तथा कीमो थेरेपि की चिकित्सा आरंभ हुई। स्वामीजी की बीमारी का समाचार, गाजीपुर तथा लखनऊ को उन्हीं के द्वारा लिखे हुए पत्रों से ज्ञात हुआ। वह डॉक्टरों की अनुमति मिलते ही पुस्तक के प्रकाशन के विषय में आवश्यक सूचनाएँ मुद्रक (प्रिन्टर्स) को देकर गाजीपुर लौट आने को उत्सुक थे। उन्होंने लिखा, ''वहाँ कुर्था (गाजीपुर) में मैं गंगाजी के किनारे भीड़-भाड़ से दूर रहूँगा।'' बम्बई में अनेक मित्रों और अपरिचित चिकित्सकों आदि ने उनकी जिस प्रकार परिचर्या की, उससे

वे भाव-विह्वल हो गये थे। इसी पत्र में उन्होंने लिखा था, 'मेरे मित्रगण और इन सब अपरिचितों के मेरे प्रति इस सद्भावनापूर्ण व्यवहार से मैं भावविह्वल हो जाता हूँ और अपनी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता हूँ। मैं कैसे इनके प्रति आभार प्रकट करूँ और किस प्रकार गुरु महाराज के प्रति, जिनकी कृपा से ही यह सारा सम्भव हो रहा है, अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ।'' वैसे तो हम सभी का जीवन घटनापूर्ण होता है परन्तु इस प्रकार की अतिगम्भीर व्याधि भी स्वामीजी के लिए केवल एक 'घटना' मात्र ही थी। उसी के साथ चिकित्सकों के निर्देशों का उन्होंने जिस प्रकार पूरी निष्ठा के साथ पालन किया, उसके द्वारा उन्होंने मानों यही शिक्षा दी कि वैराग्य के नाम पर शरीर की उपेक्षा करना उचित नहीं है।

रोग और तेज शक्ति वाली दवाईयों के प्रभाव के कारण स्वामीजी का शरीर इतना कमजोर हो गया था कि उनके लिए अकेले वापसी की यात्रा करना कठिन हो गया। श्री रमाशंकर सिंह को गाजीपुर से, स्वामीजी को बम्बई से सकुशल गाजीपुर वापस लाने के लिए भेजा गया। इस प्रकार स्वामीजी गाजीपुर में दी जाने वाली चिकित्सा के संबंध में तथा प्रत्येक छः मास पश्चात् बम्बई जाकर परीक्षण करवाने के विषय में डॉ गोपाल द्वारा विस्तार पूर्वक दिये गये निर्देशों को लेकर गाजीपुर लौट आये।

कुर्था के समीप की अपनी कुटिया में नियमित रूप से चिकित्सा तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने में अपने मित्रों को जो असुविधा होगी, उसको ध्यान में रखकर स्वामीजी ने स्वयं ही गाजीपुर स्थित मानव सेवा संघ में रहने का प्रस्ताव रखा जहां किसी भी समय पहुंच सकना सुविधाजनक था। इसके अनुसार स्वामीजी के बम्बई से गाजीपुर पहुँचने के पूर्व ही वहाँ उनके रहने के लिए सारी व्यवस्था कर दी गयी। उनके कमरे से गंगाजी का समीप से बड़ा मनोरम दृश्य दिखाई देता था। मानव सेवा संघ के दक्षिण भाग के दो कमरे स्वामीजी के उपयोग के लिए व्यवस्थित कर दिये गये। स्वामीजी की गंगा जी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। अनेक बार वे कहा करते थे, ''जैसे ही मैं गंगाजी के किनारे लौट आता हूँ मेरा

रोग स्वतः तुरन्त दस प्रतिशत कम हो जाता है।'' स्वामी शरणानंद जी द्वारा स्थापित मानवसेवा संघ के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं-साधू-सेवा, रुग्ण-सेवा और वृद्ध-सेवा। स्वामीजी विनोद-पूर्वक कहा करते थे, ''मैं अकेला ही तीनों हूँ।''

जैसा कि बम्बई के चिकित्सकों ने पहले ही सावधान किया था, कीमोथेरेपि और रेडियोथेरेपि के प्रभाव से स्वामीजी का शरीर प्रथम छः महीनों में अतिशय दुर्बल हो गया था। किसी तरह से कुछ महीनों में रोग का बढ़ना काफी सीमा तक रुक गया था। अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि के कारण स्वामीजी अपने रोग की प्रत्येक अवस्था का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते रहते थे और दूसरों को भी इस प्रकार से समझाते थे कि जैसे वह किसी अन्य व्यक्ति की बात कर रहे हों। कुछ ही दिनों में उन्होंने रोग की विशेषताओं को भलीभाँति समझ लिया और जब भी वे उसे बढ़ा हुआ देखते, सहज रूप से उनकी टिप्पणी केवल इतनी ही होती थी, ''यह तो कैंसर का स्वभाव है।''

महीनों के बीतने के साथ ही, स्वामी जी ने क्रमशः बिना किसी का सहारा लिये, पहले शैय्या पर से उठना, पश्चात् में कमरे के सामने के बरामदे में थोड़ा-थोड़ा टहलना आरम्भ किया। वह चिकित्सकों के छोटे से छोटे निर्देशों का पूरी निष्ठा से पालन करते रहे और प्रत्येक छः मास पर उनके द्वारा बताई गई निश्चित तिथि पर स्वास्थ्य परीक्षण के लिए बम्बई में उपस्थित होते रहे।

१९८७ के अन्त में स्वामी जी ने अवसर पाकर बिना किसी की सहायता से अपनी ''At the Feet of my Guru'' (मेरे गुरुदेव के श्री चरणों में) पुस्तक की पांडुलिपि पूरी की। उसे प्रकाशित करने की पूरी जिम्मेदारी उन्होंने स्वयं वहन की तथा कैंसर की क्रूर पकड़ भी उन्हें अपने गुरुदेव स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के प्रति इस पुस्तक के रूप में श्रद्धांजलि अर्पित करने में बाधा नहीं बन सकी। इस पुस्तक की लेखक-टिप्पणी में लिखा है, ''पिछले दो वर्षों से जब से शरीर असाध्य रोग से ग्रस्त हुआ है,

मैं पग-पग पर गुरुदेव की करूणापूर्ण कृपा का अनुभव कर रहा हूँ और इसीने मुझे शरीर में प्राण शेष रहने तक गुरुदेव की महिमा का उच्चस्वर से स्तुतिगान करने की प्रेरणा प्रदान की।''

१९८८-८९ के वर्षों में स्वास्थ्य में कुछ और सुधार होने के साथ, स्वामी जी ने अपनी ही आवाज में कुछ भजन, श्लोक और गुरूस्तवन टेप किये। साथ ही, अपने रोग को विशेष महत्त्व न देते हुए भी चिकित्सा के क्षेत्र में किञ्चितमात्र् भी लापरवाही नहीं की। स्वामीजी ने अपने गुरु स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के जीवन पर एक लेख तैयार किया (इसका हिन्दी रूपान्तर इसी पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है) और 'माउन्टेन पाथ' नामक पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेज दिया। इसी प्रकार की बहुत सी घटनाओं से स्वामी जी की उनके गुरुजी के प्रति प्रत्येक परिस्थिति में सम्पूर्ण समर्पण की झलक मिलती है।

१९८९ में, स्वामीजी ने एक साधू के अनुरोध पर कुछ आर्युवेदिक चिकित्सा भी की जिसके कुछ लाभदायक परिणाम दिखायी दिये। विनोद में स्वामी जी कहा करते थे, ''मेरा शरीर एक दवा की दुकान और प्रयोगशाला बन गया है।'' जैसा भी हो, इस चिकित्सा से स्वामीजी के स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ और अनेक परिचितों को रोग से ग्रस्त होने के पूर्व के कुर्था के अच्छे दिन स्मरण हो आये। बहुत से दर्शनार्थी, जो स्वामीजी को एक 'रोगी' के रूप में देखने और उनकी कुछ सेवा करने का भाव लेकर आते, उनके पवित्र सानिध्य मात्र से अनजाने ही संसारिकता के पुराने रोग से स्वयं मुक्त हो जाते थे भले ही उन्हें इस परिवर्तन का आभास भी न हो पाता था।

बम्बई से लौटने के पश्चात् स्वामीजी की दशा निरन्तर खराब होने लगी और वह एक प्रकार से शय्याग्रस्त हो गये थे। कई बार, रोग के प्रभाव से शरीर में अनेक स्थानों पर बहुत सी हड्डियाँ चटक जाने के कारण उनका शय्या पर ही हिलना-डुलना बहुत सीमित हो जाता था। परन्तु इस सम्पूर्ण समय में यह बात स्पष्ट थी कि परमेश्वर अपने इस मौन भक्त

की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना मांगे स्वयं ही मौन रूप से कर रहे थे। आवश्यकता के अनुरुप योग्य व्यक्ति तथा अन्य वस्तुएं स्वयं ही उनके पास किसी न किसी प्रकार से पहुँच जाती थीं। भगवान कृष्ण द्वारा गीता में दिये वचन 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की सत्यता में विश्वास करने के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। अनेक बार उनके भक्त तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा यह पूछे जाने पर कि वे इस भयंकर रोग के जाल में कैसे फँस गये, और परमेश्वर उनके समान व्यक्ति के लिए इतना अन्यायी क्यों है, स्वामीजी हमेशा यही कहते थे, ''मैं जब उस मूल स्रोत का विचार करता हूँ जहाँ से ये सारी सहायता आ रही है, तो अपने रोग को भूल जाता हूँ।'' इस प्रकार के आस्थावान व्यक्ति की सेवा कौन नहीं करना चाहेगा। सेवकों के एक दल ने अपनी-अपनी दिनचर्या इस प्रकार से बना ली जिससे कि स्वामीजी की सेवा प्रत्येक समय होती रहे। स्वामीजी भी इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि उनकी सेवा करने में व्यस्त होने के कारण किसी के लिए व्यक्तिगत् अथवा पारिवारिक समस्या उत्पन्न न होने पाये। साथ ही इस सेवक-दल की भी प्रशंसा करनी होगी कि अपनी व्यक्तिगत कठिनाईयों की चिंता न करते हुए उन्होंने बिना एक भी दिन के नियम को तोड़े चार वर्ष से अधिक की लम्बी अवधि में पूर्ण श्रद्धा और दक्षता से स्वामी जी की सेवा की। स्वामीजी स्वयं भी इन सबके प्रति विशेष स्नेह रखते थे और कहा करते थे, ''जिस प्रकार से ये लोग मेरी सेवा कर रहे हैं, शायद अपने माता-पिता की भी वैसी सेवा नहीं करेंगे।''

नियमित औषधि-सेवन, उचित पथ्य तथा उनकी स्वयं की इच्छा शक्ति के कारण धीरे-धीरे स्वामी जी के स्वास्थ्य में इतना सुधार होता गया कि १९९० के आरम्भ में जब नियमित छः महीने के स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए वह बम्बई गये तब उनके स्वास्थ्य में हुए सुधार को देखकर डॉ गोपाल स्वयं सुखद रूप से आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने सब दवाइयाँ बन्द कर दीं तथा यह भी सलाह दी कि इसके पश्चात् जब तक कोई

विशेष समस्या उत्पन्न न हो, प्रत्येक छः महीने बाद स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए बम्बई आना आवश्यक नहीं है। स्वामीजी गाजीपुर लौट आये। वह अपने दैनिक कार्यों में काफी सीमा तक आत्मनिर्भर हो गये थे। एक बार तो वह कुर्था के अपने भक्तों का उत्साह-वर्धन करने के लिए एक जीप से वहाँ तक गये। इस प्रकार के भयंकर रोग से ग्रस्त होने पर भी स्वामी जी की विनोद-प्रियता सदैव बनी रही। अन्तिम एक महीने को छोड़ दें तो उनके कमरे का वातावरण सदैव हँसी-मजाक से भरा रहता था। सहज ही उनके कमरे में आने वाले किसी अनजान व्यक्ति के लिए यह विश्वास करना कठिन होता था कि शय्या पर लेटे-लेटे अपने आसपास के लोगों के साथ इस प्रकार से हलके फुलके विनोद करने वाला यह व्यक्ति बोन मैरो कैंसर जैसे असाध्य रोग से ग्रसित है तथा शरीर में स्थान-स्थान पर टूटी हड्डियों के कारण असह्य पीड़ा सहन कर रहा है। वैसे भी स्वामीजी ने अपने रोग को कभी रोग नहीं माना। उनके लिए तो यह केवल एक अनुभव था, जीवन के अन्य अनुभवों की भाँति! वे कहा करते थे, "मैं केवल उसे साक्षी भाव से देख रहा हूँ।" साधारणतः इस प्रकार की व्याधि से ग्रस्त होने पर व्यक्ति के मन में पहली प्रतिक्रिया होती है, "मुझे ही क्यों?" स्वामीजी का भाव पूर्णतः भिन्न था। वे कहा करते थे, "कैंसर किसी न किसी की खोज में था, उसने मुझे पकड़ लिया। कोई बात नहीं। कम से कम एक व्यक्ति तो बचा। मेरे स्थान पर किसी ग्रहस्थ को पकड़ता तो उसका सम्पूर्ण परिवार बरबाद हो जाता। मेरे पीछे चिंता करने के लिए कौन है?" हालाँकि उन्होंने स्वयं की चिंता कभी नहीं की पर अपनी बीमारी के कारण दूसरों को होने वाले कष्टों का उन्हें सदैव ध्यान रहता था और वे उसे व्यक्त भी करते थे।

वैसे तो स्वामीजी का सम्पूर्ण जीवन, परन्तु विशेषकर रोग से ग्रस्त होने के पश्चात् उनके जीवन का काल-खण्ड भगवान कृष्ण द्वारा गीता में अर्जुन को दिये अपने इस वचन का प्रत्यक्ष प्रमाण है-

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

अर्थात् "जो अनन्यभाव से मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरंतर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य एकीभाव से मुझमें स्थित भक्तों के योग क्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ।"

बम्बई में सर्वप्रथम जब उनके कैंसर का पता चला था तब से लेकर अन्त तक उन्हें चिकित्सा तथा अन्य प्रकार की सभी सुविधाएँ बिना किसी समस्या के मिलती गयीं। बम्बई जैसी घोर भौतिकतावादी नगरी में उनकी चिकित्सा करने वाले अनेक चिकित्सकों ने न केवल उन्हें निःशुल्क सेवा प्रदान की अपितु उनके समान व्यक्ति की सेवा करने का अवसर पाकर स्वयं को भाग्यशाली भी समझा।

स्वास्थ्य में कुछ सुधार होने के साथ-साथ स्वामी जी ने प्रातःकाल, विशेषतः ब्रह्ममुहुर्त में ध्यान, जप इत्यादि करना पुनः आरम्भ कर दिया यद्यपि वे एक समय में एक घंटे से अधिक समय तक बैठे रहने में सक्षम नहीं थे। प्रातः ४ बजे के बाद देर रात्रि तक उनके पास नियमित रूप से मिलने वाले आते रहते थे। इन सभी का स्वामीजी सदैव विभिन्न विषयों पर बातचीत के द्वारा स्वागत किया करते थे। कभी-कभी इस दौरान गहन आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा हुआ करती थी। किसी व्यक्ति विशेष से जुड़े बिना स्वामीजी सभी से एक समान व्यवहार रखते थे। सभी के लिए प्रेम तथा करूणा उनके चरित्र की विशेषता थी। सीधे सादे और सरल मन के लोगों के प्रति सदा ही उनका भाव प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण होता था, परन्तु सुशिक्षित होने का आवरण ओढ़े दम्भपूर्ण व्यक्तियों से वह स्वयं को दूर ही रखते थे। वे कहा करते थे, "जीवन में जिनके कुछ सिद्धान्त हैं उन्हें कम कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।" स्वामीजी से मिलने आने वाले लोगों में से एक सज्जन जिनका स्वामीजी से परिचय कुछ समय पूर्व ही हुआ था, उनसे श्रद्धा और स्नेह भाव से जुड़ जाने के कारण एक दिन साहस कर अपने मन के भाव व्यक्त करते हुए बोले, "स्वामीजी, मैं अब सेवानिवृत्त होने जा रहा हूँ और अपने सेवाकाल में

भ्रष्टाचार से घिरे वातावरण में मैंने अपने कर्त्तव्यों का पूरी निष्ठा और ईमानदारी से पालन किया है। अब सेवानिवृत्त होने के बाद के जीवन का विचार कर मैं स्वयं में एक रिक्तता का तथा कुछ खोया हुआ अनुभव करता हूँ। आपसे मेरी भेंट बहुत विलम्ब से हुई; कृपया मुझे इसमें से बाहर निकलने का मार्ग दिखाइये।'' उन सज्जन का निष्कपट भाव देखकर स्वामीजी ने प्रेमपूर्ण स्वर में उत्तर दिया, ''अपने रोजमर्रा के जीवन से एक निश्चित अवधि के पश्चात्, जैसे कि प्रत्येक छ: महीने पर, कुछ दिनों के लिए अवकाश लेकर किसी तीर्थस्थान में जाकर संत, महात्माओं के सानिघ्य में रहिये। आगे का मार्ग स्वत: ही प्रशस्त होता जाएगा।''

एक बार स्वामीजी के एक सेवक ने उनके शरीर को असावधानी से हिलाया जिसके कारण उनकी कुछ और हड्डी चटक गई और दर्द भी बढ़ गया। स्वामीजी ने शांत भाव से उसका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए कहा, ''मैं स्वयं तो अपने शरीर की चिंता नहीं करता लेकिन वे लोग जिन्होंने मेरी बीमारी के दौरान इतने कष्ट उठाकर और समय देकर मेरी सेवा की है, तुम्हारी लापरवाही का पता पाकर तुम्हें नहीं छोड़ेंगे और मेरे लिए वह दु:खद घटना होगी। इसलिए भविष्य में सावधान रहना।''

सितम्बर १९८० में स्वामीजी के सुधरते हुए स्वास्थ्य में अचानक विरुद्ध दिशा में परिवर्तन हो गया। स्वास्थ्य में प्रतीत होता सुधार केवल भ्रम ही सिद्ध हुआ। पन्द्रह दिनों के थोड़े से समय में वे एक बार फिर पूर्णत: शय्याग्रस्त हो गये। शरीर के विभिन्न अंग एक के बाद स्थान-स्थान पर रोग के प्रभाव से हड्डियां चटकती जाने के कारण बेकार होते गये। स्वाभाविक ही उन्हें स्वास्थ्य-परीक्षण तथा चिकित्सा के लिए बम्बई अविलम्ब ले जाने का निर्णय लिया गया। इस बार दो सेवकों के साथ २९ सितम्बर, १९८० को उन्होंने गाजीपुर से प्रस्थान किया। बम्बई में परीक्षण करने पर सबके मन की दु:शंका ही सत्य सिद्ध हुई कि कैंसर अब चरम सीमा पर पहुँच चुका है। अत्यन्त दुर्बल होने के कारण शरीर के लिए तेज प्रभाव वाली दवाईयों को सहन कर पाना सम्भव नहीं था अत: आगे की चिकित्सा

अब सम्भव नहीं थी। अब अन्तिम समय का आरम्भ हो चुका था। डॉ. गोपाल का मत था कि स्वामी जी को तुरन्त गाजीपुर वापस ले जाया जाये। स्वामीजी के बम्बई के मित्र तथा साथ आये सेवक भी इस बात से सहमत थे; उनके मत से भी स्वामीजी के अन्तिम क्षणों में उनके लिए गंगाजी के पवित्र तट पर ही रहना उचित था। परन्तु शायद स्वामी जी अपनी गंभीर शारीरिक अवस्था तथा डॉ गोपाल की राय से अनभिज्ञ थे। बम्बई में कुछ दिन और निवास करने से उनके गाजीपुर पहुँच पाने की क्षमता तथा सम्भावना कम होती जा रही थी। लेकिन मरीज से यह बात कहे कौन? अन्त में डॉ. गोपाल पर ही यह दु:खद कार्य सौंपा गया। स्वामीजी एक सन्यासी पहले थे और रोगी बाद में। डॉ. गोपाल का 'निर्णय' सुनकर वह शांतचित्त से बोले, ''ये लोग मुझे बताने से इतना हिचकते क्यों हैं? इसमें छिपाने की कौन सी बात है?'' ऐसी अवस्था में भी उन्होने बम्बई में उनकी पुस्तकों के प्रकाशक श्री अच्युतन को बुलवाया और अपने गुरुदेव से सम्बन्धित कुछ पुस्तकों के पुन:र्मुद्रण के विषय में निर्देश तथा सूचनाएं दीं। स्वामी जी के सेवकगण उनकी अपने गुरुदेव के प्रति इस सीमा तक की भक्ति के एक मूक साक्षी थे। इसके पश्चात् स्वामीजी को एक के बाद एक नौ बोतल ग्लुकोज चढ़ाया गया जिससे कि वह गाजीपुर तक की यात्रा के श्रम को सहन कर सकें। अन्त में किसी प्रकार से विचलित हुए बिना स्वामी जी ने अपने बम्बई के मित्रों से विदा ली। उनके पूर्वाश्रम के भाई भी उनसे मिलने आये परन्तु वे भी उन्हें किसी प्रकार से भावनाओं में न बहा सके। उनकी आँखों से बहते हुए अश्रु स्वामीजी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे लेकिन स्वामीजी एक सन्यासी थे और इस सम्पूर्ण परिस्थिति में पूर्ण रूप से सन्यासी ही बने रहे। अंतत: सभी आशंकाओं के विपरीत स्वामीजी और उनके साथ गाजीपुर से आये दो सेवक १२ अक्टूबर १९८० को बम्बई से प्रस्थान कर गये। गाजीपुर-वापसी की यात्रा के दौरान दोनो सेवक परमेश्वर से स्वामीजी को जीवित अवस्था में गाजीपुर तक पहुँचाने की प्रार्थना कर रहे थे। उनकी

इस मन: स्थिति को भाँपकर स्वामीजी ने उनमें से एक से कहा, "कुछ लोग मुझे एक बार फिर से देखना चाहते हैं और यदि वे ऐसा न कर पाये तो जीवन पर पछतावा करेंगे कि वे मुझसे अन्तिम बार न मिल सके। अत: आप लोग मेरे लिए मत घबड़ाइये।"

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वामीजी भावनाओं में बहने वाले व्यक्ति नहीं थे किन्तु वह सदैव दूसरों के मन की सच्ची भावनाओं को समझकर इनका सम्मान करना जानते थें, यदि वे बन्धनकारक न हों। ऐसी घटनाओं में से एक का उल्लेख करने के लिए हमें फिर से स्वामीजी की बम्बई की अन्तिम यात्रा के दिनों में लौटना होगा। अपने स्वास्थ्य परीक्षण के लिए स्वामीजी प्रत्येक छ: महीने में जब भी बम्बई जाते, उनके रहने की व्यवस्था बम्बई के 'माता लक्ष्मी नर्सिंग होम' में और मुख्य चिकित्सा टाटा मेमोरियल हॉस्पिटल में होती थी। 'माता लक्ष्मी नर्सिंग होम' की प्रबन्धक डॉ. (श्रीमती) एस.मीरचंदानी के मन में धीरे-धीरे स्वामीजी के प्रति विशेष आदर-भाव हो गया था।

नर्सिंग होम में स्वामी जी के प्रथम निवास के दौरान उन्हें अन्य मरीजों के समान ही व्यवहार मिला था। उनके दूसरी बार निवास के दौरान, उनके गाजीपुर वापस जाने के एक दिन पूर्व, डॉ. मीरचंदानी ने उनसे पूछा कि इस इलाज आदि का व्यय कौन वहन कर रहा है? यह ज्ञात होने पर कि स्वामीजी के मित्रगण तथा अनुयायी यह व्यय वहन कर रहे हैं, डॉ. मीरचंदानी ने इस विषय में पहले ही विचार न करने पर पश्चाताप् व्यक्त किया तथा नर्सिंग होम के दफ्तर में निर्देश दिया कि भविष्य में स्वामीजी के वहाँ के निवास तथा चिकित्सा पर कोई शुल्क न लिया जाये। इसके पश्चात् की यात्राओं के दौरान स्वामीजी को डॉ. मीरचंदानी से उनके नर्सिंग होम में विशेष रूप से स्नेहपूर्ण व्यवहार मिलता था। इस नर्सिंग होम में स्वामीजी के अन्तिम निवास के दौरान एक अतिशय हृदयस्पर्शी घटना घटी। नर्सिंग होम में स्वामीजी के निवास के अन्तिम दिन डॉ. मीरचन्दानी उनसे मिलने पहुँची तथा प्रणामकर उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुशल

पूछने के बाद उन्होंने स्वामीजी से नर्सिंग होम में उनकी परिचर्या में कोई कमी रह गई हो तो उसके लिए क्षमा माँगी। स्वामीजी ने विश्वास दिलाया कि उसके संबंध में उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भेंट के अन्त में विदा लेते समय डॉ. मीरचंदानी ने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए समर्पण के रूप में कुछ धन रखा हुआ एक लिफाफा स्वामीजी के हाथों में पकड़ाया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार करने से प्रेमपूर्वक मना करते हुए उनसे कहा इसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, और कहा कि उन्होंने अपने नर्सिंग होम में उनकी सेवा न केवल नि:शुल्क निवास व्यवस्था द्वारा की है, अपितु अनेक दवाइयों की भी अस्पताल से व्यवस्था कर वे पहले ही काफी सेवा कर चुकी हैं। स्वामीजी का यह तर्क सुनकर डॉ. मीरचंदानी श्रद्धा और भक्ति से ओतप्रोत गद्गद स्वर में बोलीं, "स्वामीजी, हम जैसे लोगों के पाप के कारण ही आप जैसे महात्मा लोग इतना शरीरिक कष्ट सहते हैं। क्या हम लोग आप लोगों की इतनी सी भी सेवा न करें?" स्वामीजी अपनी भावनाओं को नियंत्रित न कर सके तथा उन्होंने लिफाफा स्वीकार कर लिया। यह और इसी प्रकार की अन्य घटनाएँ तथा गाजीपुर में उनकी जिस प्रकार से सेवा की जा रही थी, उसका स्मरण कर स्वामीजी इसे परमेश्वर तथा गुरुमहाराज की कृपापूर्ण करूणा की सतत् वर्षा समझकर भावविह्वल हो जाया करते थे।

इस बार बम्बई से लौटने के पश्चात् स्वामीजी के स्वास्थ्य में निरन्तर गिरावट आती गयी। उनका स्वास्थ्य कभी अति खराब और कभी अत्यधिक खराब की स्थिति के बीच में झूलता रहता था। स्वामीजी ने अब दर्द निवारक दवाओं के अतिरिक्त अन्य सभी दवाएं बन्द कर दी। कई बार तेज दर्द निवारक दवाओं से भी उनके शरीर का असह्य कष्ट कम नहीं होता था। ऐसे अवसरों पर भी उनके मुख से केवल धीमे स्वर में "ॐ" ही निकलता था। अब प्रतिदिन के भोजन की मात्रा भी कम से कम होती जा रही थी। गर्दन से ऊपर का भाग छोड़कर शायद ही शरीर का कोई भाग होगा जहाँ की हड्डी टूटे बिना रह गयी होगी। परन्तु शारीरिक

अवस्था जितनी अधिक बिगड़ती गई उनका चेहरा उतना ही दैदीप्यमान होता गया। इतनी खराब दशा होने पर भी उनसे मिलने आने वाले किसी आगंतुक के लिए यह अनुमान करना असम्भव था कि बिस्तर पर पड़े इस व्यक्ति के बारे में चिकित्सक सारी आशा छोड़ चुके हैं। यद्यपि वे स्वयं इसे मृत्यु शैया घोषित कर चुके थे परन्तु मिलने आने वालों के साथ स्वामीजी अभी भी हँसी मजाक करते रहते थे। डॉ केदारनाथ सिंह उनसे पूछते, ''स्वामीजी स्वास्थ्य कैसा है?'' उत्तर मिलता, ''प्रगति है, (कुछ क्षण रुककर) गिरावट की ओर।''

इन्हीं अन्तिम दिनों में किसी समय बम्बई के चिकित्सकों के 'निर्णय' को न मानते हुए तथा शरीर की असह्य पीड़ा की चिन्ता न करते हुए स्वामीजी ने अपने गुरुदेव के प्रति दो कविताओं (An Acrostic तथा My Guru) की रचना की। ये दो रचनाएँ उनकी अन्तिम रचनाएँ थीं और अपने गुरुदेव के श्री चरणों में अन्तिम श्रद्धांजलि भी।

एक दिन अपराह्न में स्वामीजी की दशा अचानक अत्यधिक गंभीर हो गई और ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे अन्तिम क्षण आ गया। उस समय उनके पास केवल एक गरीब सेवक था जो स्वामी जी की अति भक्ति-भाव से सेवा किया करता था। उसके लिए उसे नियमित वेतन भी प्राप्त होता था, जिससे कि वह अपने परिवार का खर्च चला सके। स्वामी जी ने जैसे ही महसूस किया कि वह होश खो रहे हैं उन्होंने तुरन्त उस सेवक को बुलाकर शहर में जाकर अन्य भक्तों को इस स्थिति की सूचना देने के लिए कहा। वह बेचारा स्वामीजी को इन अन्तिम क्षणों में अकेला छोड़कर जाने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। स्वामीजी ने दोबारा उसे सख्त स्वर से आज्ञा दी, ''मैं जैसा कह रहा हूँ वैसा करो और मुझे अकेला छोड़ दो।'' हिचकते हुए कि अब वह शायद ही स्वामीजी को जीवित देख सकेगा, वहाँ से अन्य लोगों को सूचना देने के लिए चला गया। सूचना मिलते ही सारे भक्तगण स्वामीजी के पास एकत्र हो गये। संयोग की बात है कि स्वामी जी थोड़ी ही देर में होश में आ गये। स्वामीजी

ने होश में आने पर उस बेचारे सेवक को समझाया, ''यदि आज मैं दोबारा होश में न आता, तो सब लोग तुरन्त सूचना न देने के लिए तुम्हारे ही ऊपर दोषारोपण करते, इसी कारण मैंने तुम्हें उसी क्षण भेज दिया था।'' जीवन का जो अन्तिम क्षण हो सकता था, उस समय में भी दूसरों की चिन्ता करने वाले सन्यासी का करूणामय हृदय सबके समक्ष स्पष्ट था।

अपने उन अन्तिम दिनों में स्वामीजी पूर्ण रूप से भौतिक शरीर के परे हो चुके थे। ऐसे ही आत्मज्ञ व्यक्ति के लिए गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है,

''गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥''

अर्थात्, यह पुरुष इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप, तीन गुणों का उल्लंघन कर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था व सब प्रकार के दुःखों से विमुक्त हुआ, परमानन्द को प्राप्त होता है।

स्वामीजी ने स्वयं के उदाहरण से स्पष्ट कर दिया कि एक आत्मसाक्षात्कारी व्यक्ति के लिए मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं होता। स्वामी पुरुषोत्तमानंद जी ने अपनी एक कविता ''Admonitions of the Sannyasin''(संन्यासी का प्रबोधन) में कहा है,

''यह देह रहे अथवा न रहे
नष्ट हो जाये यह अभी या कुछ काल पश्चात्
तुम्हारे क्षुद्र शरीर की बात ही क्या
जब सम्पूर्ण जगत् ही फँसा है मृत्यु के जबड़े में
न बनो कायर अपितु बनो वीर
सम्मुख जाओ मृत्यु के, अपनी पूर्ण शक्ति के साथ
अर्थहीन कर उसे, कूद जाओ उस पार
अपने मूल आत्मस्वरूप को जानो
मैं हूँ आत्मा शाश्वत सदैव निर्मल।''

हरि ॐ तत् सत्॥

स्वामी जी ने अपनी बीमारी की अवधि में अपने सद्गुरु के शब्दों का मूर्त्तरूप प्रस्तुत किया।

स्वामी जी ने अब व्यक्तिगत रूप से अपने महाप्रयाण की तैयारी आरम्भ कर दी। अपने सम्पूर्ण संन्यासी जीवन में उन्होंने "मैंने गेरुआ क्यों धारण किया है" इस मूल उद्देश्य को कभी विस्मृत नहीं किया। इस बारे में वे इन अन्तिम दिनों में कैसे कोई समझौता कर सकते थे। धीरे-धीरे परन्तु दृढ़ निश्चय के साथ उन्होंने स्वयं को सांसारिक जगत से हटाकर अधिकाधिक अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ कर दिया। अब वे बातचीत कम से कम करते थे। हँसी-मजाक, विनोद अब समाप्त हो गये थे। एक बार उन्होंने कहा भी, "मैंने केवल मजाक या विनोद के लिए गेरुए वस्त्र नहीं धारण किए हैं।"

अब उनके ध्यान करने के समय का विस्तार होता गया। फिर भी, यदि कोई दर्शन करने बाहर से आता तो उसके साथ बातचीत भी करते थे। सभी ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे अब इस लोक में कुछ दिन के लिए ही हैं। स्वामीजी के एक भक्त प्रो. ललित मोहन तिवारी इन दिनों स्वामीजी से मिलने गाजीपुर आये। मिलने के अन्तिम दिन स्वामीजी से विदा लेते समय, अब फिर 'दर्शन' शायद ही होंगे यह सोचकर तिवारीजी अत्यन्त खिन्न थे। स्वामीजी ने उन्हें 'रिचर्ड बाख' द्वारा लिखित 'There is no place as far away' (जिसे हम दूर कहते हैं ऐसा कोई स्थान नहीं) नामक छोटी सी पुस्तक पढ़ने का सुझाव दिया। यह पुस्तक विचार की दृष्टि से अत्यन्त गहन है। पुस्तक का मूल भाव यह है कि,

"क्या मीलों का अंतर सत्य ही
तुम्हें अपने मित्रों से दूर कर सकता है?
यदि तुम इच्छा रखते हो उसके साथ होने की
जिसे तुम प्रेम करते हो,
तो क्या उसी क्षण उसके साथ नहीं हो?"

स्वामीजी के भाव को (मानसिक स्थिति) वे ही लोग समझ सकते

हैं जो स्वयं इस 'महान मार्ग' के यात्री रह चुके हों। कुछ ही दिन पहले स्वामीजी अपने दैनिक उपयोग की प्रत्येक वस्तु को व्यवस्थित तथा उचित स्थान पर रखने में अत्यन्त कुशल थे, वही अब अपने आसपास की किसी वस्तु व किसी व्यक्ति की परवाह नहीं करते थे। 'रमण महर्षि' ने एक स्थान पर कहा है, "व्यक्ति को छोटी सी छोटी वस्तु से भी लाभ उठाने में सक्षम होना चाहिए परन्तु इसके साथ ही सम्पूर्ण संसार को निरर्थक बराबर समझकर उसे त्यागने में समर्थ भी होना चाहिए।" श्री रमण महर्षि के ये आप्त वचन स्वामीजी के जीवन के अंतिम क्षणों में चरितार्थ हो रहे थे।

भक्त के लिए अपने ईष्ट में पूर्णरूप से विलीन हो जाने का समय समीप आता जा रहा था।

स्वामीजी की शारीरिक दशा देखकर उनके अभी भी शरीर धारण किये रहने का कारण किसी को स्पष्ट नहीं हो रहा था। एक बार विचार आया कि शायद वे आने वाले उत्तरायण के आरम्भ होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। लेकिन यह सत्य नहीं प्रतीत होता था क्योंकि इस विषय में अपने विचार उन्होंने अपनी एक कविता (इसी पुस्तक में अन्यत्र उद्धृत) में बहुत पहले ही व्यक्त किये थे। यह तो बाद में लोग समझ सके कि अभी भी उन्हें स्वयं के उदाहरण से अपने अनुयायियों को कुछ और शिक्षा देनी थी।

स्वामी जी के बम्बई में रहने वाले पूर्वाश्रम के एक मित्र ने जिनके साथ स्वामीजी उन दिनों रामकृष्ण मिशन में नियमित जाते थे; उनकी गंभीर शारीरिक अवस्था को जानकर, एक भावुकतापूर्ण पत्र द्वारा उनके (स्वामीजी के) स्वास्थ्यलाभ के लिए विशेष जप करने की अनुमति माँगी जिसे स्वामी जी ने विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। स्वयं उत्तर लिखने की स्थिति में न होने के कारण किसी अन्य से लिखवाये गये अपने पत्र में उन्होंने लिखा था, "हम लोग तो नदी के प्रवाह में बहते हुए लकड़ी के लट्ठे के समान हैं, भाग्य से एक दूसरे से मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं, फिर

से मिलने के लिए।'' अपने मित्र की इस प्रार्थना को अस्वीकार करने में स्वामीजी का परमेश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण-भाव व्यक्त होता है। जिस प्रकार शांतचित्त निष्ठापूर्वक उन्होंने साधना की थी उसी प्रकार उन्होंने अपने कष्टों को भी सहन किया।

स्वामी जी के कमरे का वातावरण उनकी अन्तर्मुख मन:स्थिति के अनुरूप ही आध्यात्मिक स्पन्दनों से भरा रहता था। एक योग्य ग्रहण करने वाले के लिए उस कमरे में बैठना ही अपने आप में एक विशिष्ट अनुभव था। जन-साधारण हेतु आध्यात्मिक साधना का चरम उत्कर्ष अब स्वामी जी द्वारा अपने स्वयं के उदाहरण से प्रस्तुत किया जा रहा था। विश्वास न रखने वाले अब विश्वास कर सकते थे तथा विश्वास रखने वाले अब इस मार्ग पर चल सकते थे।

हर बीतते दिनों का साथ ही, स्वामी जी का ब्रह्मभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। कभी-कभी जब वे आँख खोलते तो उनकी आँखों का तेज सेवा करने वाले को कुछ दूर ही खड़े होने पर विवश कर देता था। स्वामीजी ने सम्पूर्ण जीवनभर अपनी जिस आध्यात्मिक उपलब्धि को सरलता के आवरण में छिपा रखा था, अब वह स्वत: ही उनके जीवन से प्रस्फुटित हो रही थी। असहनीय दर्द का कोई चिह्न भी, परमतत्त्व में अन्तिम छलांग लगाने से पूर्व, पूर्ण रूप से समाप्त हो गया था। 'अन्तिम' के पहले का वह 'चरण' जो सभी के आध्यात्मिक जीवन में निर्णायक होता है, स्वामीजी ने उसी सरलता से पार किया जिस प्रकार कि नाव नदी में प्रवेश करती है।

इन्हीं दिनों में एक बार उनकी अवस्था इतनी खराब होनी शुरु हुई कि सभी को लगा जैसे अन्तिम क्षण आ गया। लोग एकत्र हो गये जिसमें कुर्था ग्राम के 'कप्तान साहब' भी थे। कप्तान बी.के. सिंह स्वामीजी से आयु में कुछ अधिक थे तथा स्वामीजी उनका अत्यधिक आदर करते थे। कप्तान साहब ने भाव विह्वल स्वर में पूछा, ''स्वामी जी कोई आखिरी इच्छा?'' स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया, ''मेरी अन्तिम इच्छा केवल

यही है कि यदि मेरे अचेतन में भी कोई इच्छा शेष हो तो वह भी दूर हो जाये।'' उन्होंने आगे स्पष्ट करते हुए कहा, ''मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, मेरी कोई इच्छा नहीं।'' संन्यास की चरम स्थिति सबके सामने प्रत्यक्ष थी। कप्तान साहब ने झिझकते हुए उनके महाप्रयाण के बाद उनके लिए भंडारे के बारे में सुझाव माँगा। स्वामी जी ने उसी लय में उत्तर दिया, ''भंडारा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप लोग क्या सोचते हैं कि यदि भंडारा नहीं होगा तो मेरी मुक्ति नहीं होगी?'' कमरे में सभी लोग स्तब्ध रह गये। फिर भी दोनों हाथ जोड़े हुए कप्तान साहब ने साहस करके कहा, ''स्वामीजी यह सत्य है कि आप जैसे लोगों के लिए किसी प्रकार के भंडारे की आवश्यकता नहीं है...लेकिन हम लोगों को समाज में रहना है; लोग क्या कहेंगे।'' इस तर्क पर स्वामी जी ने मुस्कुराते हुए कहा, ''ठीक है, यदि भंडारा करने के लिए कोई बन्धन नहीं है तो न करने के लिए भी आग्रह ही क्यों हो? आप लोग जैसा उचित समझिए, कीजिए।''

स्वामीजी अब राग द्वेष से मुक्त होकर मृत्यु के पार हो चुके थे।

''न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेद:
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्॥''

११ फरवरी १९८९ को शिवरात्रि से एक दिन पूर्व, स्वामी जी ने श्री डी.पी. सिंह से अपना अन्तिम संदेश कहा जो उनके भक्त तथा अनुयायी सभी के लिए था। उनके अत्यन्त धीमे स्वर और लड़खड़ाती आवाज के कारण श्री सिंह उसमें से कुछ वाक्य तो समझ न सके परन्तु निम्नलिखित वाक्य अतिशय स्पष्ट स्वर में कहे गये थे, ''मैं उन सबको धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इतने दिनों तक मेरी सेवा की, परमेश्वर की उन पर कृपा रहे। सदैव परमेश्वर का स्मरण करो। परमेश्वर से केवल प्रेम ही न करो अपितु ईश्वर-चैतन्य जीवन ही जिओ। आप लोगों ने जिस प्रकार से मेरी सेवा

की है, उसी प्रकार सेवा करते रहिये।"

स्वामीजी जब कुछ क्षणों के लिए रुके तब श्री सिंह ने उनसे पूछा, "कुछ अन्य निर्देश?" स्वामीजी धीमे स्वर में बोले, "अब इससे अधिक कुछ नहीं बोलूँगा। हरि ॐ तत् सत्।" इन शब्दों के साथ स्वामीजी ने मानसिक रूप से सांसारिक जगत से अपना नाता तोड़ लिया। इस घटना के पश्चात् स्वामी जी भले ही सत्रह दिन तक शरीर धारण किये रहे, लेकिन उन्होंने 'ॐ' या 'शिव' शब्द को छोड़कर किसी अन्य शब्द का उच्चारण नहीं किया। वह संन्यासी जिसने अभी तक अपने जीवन से सभी को जीने की रीति सिखाई थी वही अब इस संसार से पूर्ण विरक्त होकर अन्तिम विदा लेने का उचित ढंग भी सिखा रहा था।

बाद के सत्रह दिनों तक स्वामी जी प्राय: समाधि में ही रहे। भोजन के नाम पर प्रतिदिन कुछ चम्मच जल या सूप उनके मुख में चला जाता था। फाल्गुन महीने मे शुक्ल पक्ष के प्रतिदिन बढ़ते हुए चन्द्रमा की तरह स्वामीजी का ब्रह्मभाव अधिकाधिक बढ़ता गया और गुरुवार २८ फरवरी १९९१ अर्थात् फाल्गुन पूर्णिमा को प्रात: ५ बजकर ४५ मिनट पर स्वामीजी शान्ति और सहजता से महासमाधि में प्रवेश कर गये। पूर्ण पूर्ण में समा गया। जो शेष रह गया वह भी पूर्ण।

"ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

स्वामीजी के महाप्रयाण के पश्चात् उनके भक्तों को कुछ खो जाने अथवा रिक्तता का अनुभव नहीं हुआ। अभी तक भौतिक स्तर पर उनके और स्वामीजी के बीच जो बाधा थी वह भी समाप्त हो चुकी थी। अब तक जो व्यक्ति रूप में थे वह अब हमेशा, हर जगह, जब कभी आवश्यकता हो, मिलने योग्य हो गये।

जैसे ही महासमाधि का समाचार गाँव और शहर में पहुँचा, लोग उन्हें अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए इकट्ठा होने लगे। जब उनके शरीर को पद्मासन में बैठाया गया, उनकी सब हड्डिया टूट गईं और ताश

के पत्तों के घर की तरह ढह गईं। लोग आश्चर्यचकित थे कि कैसे यह व्यक्ति सबके साथ विनोदपूर्वक बातें किया करता था। किसी तरह से शरीर को कुछ सहारा देकर पद्मासन में बिठाया गया लेकिन उनका चेहरा कुछ अन्य ही भाव व्यक्त कर रहा था। कोई भी दर्शक यह कह सकता था कि स्वामी जी अभी भी गहरी समाधि में स्थित हैं और सब आने वालों की श्रद्धांजलि स्वीकार कर रहे हैं। स्वामीजी के गंगा जी के प्रति अत्यधिक आदर-भाव को ध्यान में रखकर उनके शरीर को गंगाजल से स्नान कराया गया तथा उन्हें नवीन गेरुए वस्त्र पहनाए गए जो स्वामी जी ने स्वयं ही लगभग छ: महीने पहले ही इस अवसर के लिए बनवाकर रखे थे। उनके मस्तक की पवित्र विभूति उनके चेहरे की कान्ति से स्पर्धा कर रही थी। अगरबत्ती, चन्दन, पुष्पों की सुगन्ध तथा पवित्र मन्त्रों का उच्चारण कक्ष के वातापरण को दिव्यता से भर रहा था। दूध, शहद, गुलाबजल इत्यादि से उनके शरीर का अभिषेक किया गया।

दोपहर में एक बजे गंगा जी के रास्ते पर स्वामीजी के पार्थिव शरीर को कुर्था ग्राम ले जाया गया। सैकड़ों स्त्री, पुरुष और बच्चे जिन्होंने वर्षों तक स्वामीजी की बड़े अपनत्व से सेवा की थी, उनकीं अन्तिम आरती के लिए वहाँ पहले से ही एकत्र थे। कुर्था ग्राम से चलकर गंगा जी पहुँचने तक स्वामी जी के पार्थिव शरीर के साथ अनेक लोग शोभा-यात्रा के रूप में चल रहे थे। 'हर हर महादेव', 'जय काशी विश्वनाथ' के तेज उच्चारण से वातावरण गूँज रहा था। कुछ भक्त साथ मिलकर उनके शरीर को एक नाव में गंगाजी की मुख्य धारा तक ले आये और भार के रूप में एक बड़े पत्थर से बाँधकर उसे प्रवाहित कर दिया। गंगा जी ने उस महात्मा के पार्थिव शरीर को अपने प्रवाह में समा लिया।

भक्तों के द्वारा पूजा के कार्य को छोड़कर महासमाधि के पश्चात् 'दिवंगत आत्मा' के लिए किसी प्रकार की धार्मिक विधि का अनुष्ठान नहीं किया गया। उस 'महान तारक' के लिए उन अनुष्ठानों की भी क्या आवश्यकता थी?

स्वामीजी के प्रति प्रेमभाव रखने वाले तथा उनके साथ रह चुके लोगों ने अब उनकी स्मृति में षोडशी का आयोजन किया। १६ मार्च, १९९१ को स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी रघुवीरानंद जी, जो एक दिन पहले अमर- कंटक से कुर्था पहुँच गये थे, के अनुभवी मार्ग-दर्शन में कुर्था ग्राम के निकट कुटी में जिसमें स्वामी जी ने अनेक वर्ष निवास किया था, सोलह सन्यासियों का विधिवत् पूजन किया गया। उनमें से अधिकांश संन्यासी वाराणसी के रामकृष्ण मिशन के थे। इन सभी सोलह संन्यासियों को गेरुए वस्त्र, रुद्राक्ष की माला, भगवद्गीता की एक प्रति, लकड़ी की खड़ाऊँ तथा योग्य यथासंभव दक्षिणा प्रदान की गयी। इसके बाद महाभोज आरम्भ हुआ, जिसमें आसपास के ग्रामों के प्राथमिक विद्यालयों के दो हजार से अधिक बालक तथा लगभग एक हजार वयस्क सम्मिलित हुए। भोज जो सबेरे ११ बजे आरम्भ हुआ तो रात में देर तक चलता रहा लेकिन क़िसी भी समय किसी भी कार्यकर्ता के चेहरे पर लेशमात्र भी थकान के चिह्न नहीं दिखायी दिये। इस सम्पूर्ण समारोह में सभी को स्वामीजी की उपस्थिति तथा मार्ग-दर्शन का अनुभव हो रहा था। स्वामीजी के महाप्रयाण के बाद उनके भक्तों और प्रशंसकों को उनकी वास्तविक आध्यात्मिक गहराई का कुछ सीमा तक अनुभव हो सका जिसे उन्होंने सदैव मित्रता के आवरण में छिपाये रखा था।

इस छोटी सी पुस्तक के माध्यम से स्वामीजी के शिष्य तथा भक्तगण उनके श्री चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। स्वामीजी की करूणापूर्ण कृपा सभी साधकों पर निरंतर बरसती रहे और अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति की यात्रा में उनका मार्ग-दर्शन करती रहे, यही प्रार्थना है।

-हरि ॐ तत् - सत्

स्वामी निर्वेदानन्द जी

(कुछ संस्मरण)

I

मेरे गुरुदेव, स्वामी आत्मानन्द गिरी की सलाह पर मैं गंगाजी के पावन तट पर साधना किया करता था।

सन् १९५५ में सौभाग्य से वशिष्ठ गुहा के श्रद्धेय स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के साथ मेरी भेंट हुई। स्वामीजी ने मुझे अपने मनोहर एकान्त स्थान में आश्रय देने की कृपा की। यह एक दुर्लभ कृपादान था जिसका मैंने, जब कभी भी मेरा निवास उत्तराखंड में हुआ करता था, अनेक बार उपभोग किया। १९५७ के आरंभ के महीनों में मेरे इसी प्रकार के वशिष्ठ गुहा में निवास के दौरान मेरी भेंट एक नये नवयुवक ब्रह्मचारी से हुई जो कुछ ही दिन पूर्व बंबई में अपने कार्यक्षेत्र को तिलांजलि देकर आश्रम से जुड़ गये थे।

ब्रह्मचारी वेदगिरी, जो कालांतर में स्वामी निर्वेदानन्द कहलाए, उस समय आयु में शायद ही ३० वर्ष से अधिक रहे होंगे। मुझसे मात्र ३ या ४ वर्ष बड़े। उनका सौम्य व्यक्तित्व वैराग्य और संसार के प्रति सच्ची विरक्ति की आभा बिखेरता था और मैं उस ओर सहज ही आकर्षित हो गया।

एक दूसरे का परिचय होने पर हम दिल खोलकर हंसे और विधाता द्वारा सन्यास की राह पर चलने हेतु चुनाव किये जाने के अपने भाग्य पर एक दूसरे का अभिनंदन किये बिना नहीं रह सके। वह मात्र आध्यात्मिक खोज ही है जिसके द्वारा मानवजीवन की संपूर्ण सार्थकता का आश्वासन मिल सकता है। हम लोग उसी का आनन्दातिरेक आपस में बांट रहे थे। ब्रह्मचारी जी एक सधे हुए विश्लेषक तथा सूक्ष्म विवेचक थे। उनकी दृष्टि

में सांसारिक जीवन यदि मिथ्या नहीं तो अतिशय जटिल तो था ही। वे विनोद में कहते थे कि इसकी अपेक्षा तो आध्यात्मिक अर्थ में पागल होकर उस विशाल अज्ञात में पूर्ण तन्मयता से छलांग लगा देना अधिक स्वीकारणीय है।

वेदगिरीजी जी के रूप में सच्चे अर्थ में एक बंधु को पाकर मैं मन ही मन हर्षित था। गुरुमहाराज के ज्ञान और प्रेम रूपी झरने में बहने वाले मधुर अमृतरस का हम स्वच्छन्द पान किया करते थे। मन तृप्त होने तक वशिष्ठ गुहा के शुद्ध और दिव्य वायु में श्वास लेकर हम स्वयं को धन्य समझते थे। स्वर्ग से धरा पर उतरी नर्तन करती गंगाजी के तट पर गहन वनों के बीच प्राचीन वशिष्ठ गुहा में महाराज जी का अस्तित्व एक ऐसे आनंदमय वातावरण की सृष्टि करता था जिसने हम दोनों के बीच की मित्रता और प्रेमभाव को अनेक वर्षों के लिए सुदृढ़ता प्रदान की।

ब्रह्मचारीजी के साधारणतः सुनने में न आने वाले नाम से जिज्ञासा जागृत होकर मुझमें उसके विषय में कुछ अधिक जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। वेदगिरी अर्थात् उद्घोषित ज्ञान का पर्वत-यह बात ज्ञात होने पर मेरे मन में अपने नये मित्र के प्रति विस्मय और श्रद्धा का भाव जागृत हुआ। सदैव से ही यह मेरा दृढ़ विश्वास रहा है कि किसी भी व्यक्ति का नाम उसके अंतःकरण की सुप्त प्रवृत्तियों तथा उसके संस्कारों का द्योतक होता है। अपने नाम में निहित अर्थ को समझकर उसके अनुसार चलना व्यक्ति के लिए अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है।

वेदगिरी को पहले से ही अपनी मातृभाषा मलयालम् के अतिरिक्त हिंदी तथा संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। अंग्रेजी पर उनका उत्तम प्रभुत्व होने के कारण हम दोनों को आपस में संभाषण करना बड़ा सुलभ हो गया था। हम दोनों उन दिनों युवक ही थे, दोनों ही के मन में वैराग्य की ज्वाला अक्षरशः धधक रही थी। इस कारण अपने मन के विचार और भावनाएं एक दूसरे के सम्मुख व्यक्त करने में हमें आनंद मिलता था। जीवन के पूर्वाश्रम की घटनाओं के विषय में शायद ही कभी चर्चा होती

थी। कभी होती भी थी तो केवल उन्हीं महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख होता था जिनके कारण हमारे अंतःकरण जागृत होकर सद्गुरु के श्रीचरणों तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त हुआ था।

सद्गुरू महान उद्धारक होता है। प्रथम वह शिष्य को दीक्षा देता है, तत्पश्चात् उसके आध्यात्मिक विकास में मार्गदर्शन और संरक्षण प्रदान करता है। शिष्य को केवल अपनी खोज में सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए तथा शाश्वत के अस्तित्व में दृढ़ भाव रखना चाहिए। जीवन का परम लक्ष्य तब स्वयं ही प्रकट हो जायेगा। ऐसा सच्चा साधक फिर स्वयं ही आध्यात्मिक प्रकाश की एक ज्वाला, एक मशाल बन जाता है जिसका प्रकाश वह उन सभी को प्रदान करता जाता है जिन्हें इसकी आवश्यकता होती है।

ब्रह्मचारी वेदगिरी अपने व्यवहार में स्वभाव से ही अतिशय सुनिश्चि हुआ करते थे। केवल सत्य ही उनके लिए सत्य था। सात्विकता के विषय में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। उनके संभाषण और उपदेशों के पीछे सन्यास की प्रेरणा सदैव विद्यमान रहती थी। उनके अध्ययन का विषय परम्परागत वेदान्त के अनुरूप ही था। शास्त्रों में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भगवद्गीता तथा विवेकचूड़ामणि उनके प्रिय ग्रंथ थे। इनमें से अनेक पुस्तकों के अंश उन्होंने अपनी युवावस्था में सन्यास लेने के पूर्व ही कंठस्थ कर लिये थे। ब्रह्मचारी जी ने एक बार मुझे ईसा मसीह के आविर्भाव के पीछे छिपे रहस्य को समझाने वाली एक अतिशय सुंदर छोटी सी पुस्तक 'क्राइस्ट उपनिषद्' दिखाकर आश्चर्यचकित कर दिया था। यह पुस्तक एक दक्षिण भारतीय ब्राह्मण द्वारा लिखी हुई है।

वेदगिरी का आध्यात्म की ओर झुकाव उनकी युवावस्था में ही जागृत हो गया था। जब वे केरल प्रांत में रहते थे तब भी अपने निवास के निकट स्थित श्री रामकृष्ण मिशन केन्द्र में जाया करते थे। मिशन के सौम्य हृदय स्वामी और ब्रह्मचारियों की संगति में किशोर वेदगिरी ने भारत की आध्यात्मिक परंपरा के अधीन सिद्धान्तों को मूल संस्कृत में ही सीख लिया

था। वे आजीवन अपने आरम्भ के उन हितचिंतकों के प्रति कृतज्ञ रहे जिनके उपदेश, प्रेम तथा आशीर्वाद ने उनके जीवन को एक सार्थक दिशा प्रदान की।

गुरु महाराज को अपने इस नये आध्यात्मिक पुत्र से बड़ा स्नेह था। वशिष्ठ गुहा आश्रम की मेरी बाद की यात्राओं के दौरान मैंने देखा कि ब्रह्मचारीजी किस प्रकार महाराज जी की आवश्यकताओं का अतिशय ध्यान रखते थे। गुरुजी तब आयु में काफी अधिक हो चुके थे। वेदगिरी द्वारा अपने गुरुदेव का ध्यान रखने में जैसे मातृभाव की झलक दिखाई देती थी। सद्गुरु की छोटी सी छोटी इच्छा पूरी करते हुए उनका अधिकतम समय गुरुसेवा में ही व्यतीत होता था। वेदगिरी के अंग्रेजी के उत्तम प्रभुत्व ने उन्हें वशिष्ठ गुहा के संत द्वारा मूल मलयालम् में लिखित आत्मकथा के आधार पर अंग्रेजी में उनका जीवन चरित लिखने की प्रेरणा दी। आश्रम में आने के बाद लगभग दो वर्ष के अन्दर ही वेदगिरी स्वामी निर्वेदानन्द पुरी हो गये। उनके महान गुरुदेव ने उन्हें दशनामी सन्यासी परम्परा में विधिवत् दीक्षित किया।

उन्हीं दिनों में स्वामी निर्वेदानन्द जी के एक अन्य गुरुभाई आश्रम में रहते थे। वे थे युवा तेजस्वी स्वामी भूमानन्दजी। वे भी मुझे अत्यन्त प्रिय थे। हम तीनों साधू एक-दूसरे से प्राय: मिला करते थे। हरिद्वार और ऋषिकेश के वनों में, जिनकी सघनता उस समय विद्यमान थी, लगभग तीन वर्ष तक हम लोगों ने समय-समय पर मुक्त विचरण किया। उनकी संगति में मैंने आंतरिक लय और अनुभूति का आनंद लिया। ये दोनों ही स्वामी अपने ईश्वर से सानिध्य के कारण अतिशय प्रसन्न मनोवृत्ति के थे। आपस में चल रहा विचार-विमर्श सहसा हास-परिहास में बदल जाता और हंसी के फव्वारे छूट पड़ते। उन वर्षों के दौरान मैंने एक अलौकिक मित्रता के रोमांच का गहनता से अनुभव किया। मैं स्वयं को वास्तव में भाग्यशाली समझता हूं कि मुझे निर्वेद और भूम की संगति का अवसर मिला। ये दोनों जैसे मेरे अपने ही आत्मा की अभिव्यक्ति थे।

ऐसी मित्रता सदैव के लिए होती है। परन्तु समय के साथ इस जगत के बाह्य रूप में सतत् परिवर्तन होते रहते हैं। भूमानन्दजी अपने शाश्वत निवास हेतु प्रस्थान कर गये। कुछ ही दिन पश्चात् वशिष्ठ गुहा की महान आध्यात्मिक विभूति की भी महासमाधि हो गई। वशिष्ठ गुहा आश्रम की मेरी अंतिम बार यात्रा स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज की पावन स्मृति में आयोजित भंडारे के अवसर पर हुई।

इसके केवल एक ही वर्ष पश्चात् कलकत्ता में मेरे स्वयं के गुरु निर्वाण को प्राप्त हो गये। बाह्य रूप लुप्त हो जाते हैं परन्तु सद्गुरु को अपने हृदय में रखकर, निर्वेद और मैं दोनों ही भिन्न-भिन्न दिशाओं में भ्रमण हेतु निकल पड़े। अपनी इन यात्राओं के काल में मैं भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण करता रहा। हम दोनों के बीच कोई पत्र-व्यवहार नहीं था परन्तु हरिद्वार स्थित श्री आय्यप्पा मंदिर के स्नेहमय पुजारी के माध्यम से हम एक दूसरे का पता ठिकाना प्राप्त करते रहे।

II

अनेक वर्षों के अंतराल के पश्चात, निश्चित रूप से कहूं तो १९८० में किसी समय स्वामीजी मेरे पर्वतीय स्थल मसूरी के निकट स्थित छोटे से आश्रम में आये। एक बार फिर मैंने उनकी सत्संगति का पूरा आनंद लिया। दो साधुओं के रूप में हम दोनों के पास अब एक दूसरे के साथ बांटने हेतु अनेक अनुभव थे। मेरी विनती पर प्रिय निर्वेद ने दूसरी बार आकर कुछ दिन साथ रहने का मेरा निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वे प्रति वर्ष दिवाली के आसपास आते जिस पर्व को हम लोग यहां पर सादगीपूर्वक परन्तु बड़े आनंद से मनाते हैं।

पहाड़ियों में ये दिन वर्षभर में सबसे अधिक शांतिपूर्ण होते हैं। जीवन की गतिविधियों से भरे वसंत और ग्रीष्म समाप्त हो चुके होते हैं और शरद का आरम्भ जैसे समस्त उपलब्धियों का किरीट धारण कर लेता है। इसी प्रकार से यह भी अर्थपूर्ण है कि इन दिनों में स्वामीजी आध्यात्मिकता

की महान ऊँचाईयों को प्राप्त कर चुके थे। उनकी विनोदवृत्ति और स्वाभाविक .ा आश्चर्यचकित कर देने वाली थी। अपने लिए एक प्याली चाय बनाने जैसे सामान्य कार्य में भी वे अतिशय व्यवस्थित, व्यवहारिक और दक्ष तथा स्वच्छ हुआ करते थे। जीवन के दैनिक कार्यकलाप और आध्यात्म के बीच अब कोई भेद नहीं रह गया था। यह समस्त ही ब्रह्म है, इसी एक अनुभूति में सारा कुछ विलीन हो चुका था।

इस कारण सहज रूप से अनेक बार विषय की गहनता के कारण बने हुए गंभीर वातावरण को सहसा उनकी किसी विनोदपूर्ण टिप्पणी का पुट मिल जाता था। वातावरण में एक संतुलित प्रसन्नता इससे सदैव बनी रहती थी। स्वामीजी के सबसे मजेदार विनोद उनके स्वयं अपने पर किए होते थे। वे सचमुच ही अतिशय विनयशील थे। इसके उपरान्त भी स्वामीजी ने एक दिन मुझे अपनी तीक्ष्ण आलोचनाक्षमता से आश्चर्यचकित कर दिया। हम दोनों अपने एक मित्र मॉल्कम टिलीस द्वारा लिखित पुस्तक ''न्यू लाइव्ज'' पढ़ रहे थे। स्वामीजी ने चर्चा के दौरान सहज ही उल्लेख किया, ''सम्पादन मेरे स्वभाव में ऐसे घुल मिल गया है कि किसी भी पुस्तक का कोई भी पृष्ठ खोलते ही मेरी ''तीक्ष्ण दृष्टि'' निश्चित रूप से उसी स्थान पर जाकर टिक जाती है जहां पर कोई गलती हुई हो। इस कारण सावधान रहना।'' और स्वामीजी के मुक्त हास्य से कमरा भर गया।

परन्तु वास्तविक रूप में तो निर्वेद का मन आतमा के अमरत्त्व का वर्णन करने वाले हमारे महान संस्कृत शास्त्रों में ही रमता था। जीवन में और उसके पार की मुक्ति का सार तत्त्व स्वामीजी की समस्त साधना के पीछे के मनोबल का प्रेरणा स्रोत था। अध्ययन और आत्मा की इन्द्रियातीतता के ध्यान के अतिरिक्त स्वामीजी को अपनी स्वयं की बनायी धुन और लय में श्लोक पाठ करना भी प्रिय था।

मैंने स्वामीजी से इनमें से कुछ प्रेरक स्तोत्र और भजन टेप रिकॉर्डर पर अंकित कर देने का अनुरोध किया। कुछ हिचकिचाहट के पश्चात्

प्रथम कुछ प्रयोग किये गये जब तक कि सब कुछ उचित रीति से नही हो गया। मुझे स्वामीजी की बाल सुलभ उत्सुकता को याद करने में बड़ा आनन्द मिलता था विशेषकर जब वे स्वयं अपनी आवाज को एक आलोचक के रूप में सुना करते थे। इस प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ अंश, कुछ उपनिषदों के अंश, कुछ शांति पाठ तथा अनेक वेदान्तिक गीत-सारे ही संस्कृत में, टेप में अंकित किये गये। भजनों को अंकित करते समय उनकी सही लय बनाये रखने के लिए करताल स्वामीजी ने स्वयं ही बजायी। निर्वेदानन्दजी हम लोगों के साथ कीर्तन में भी सम्मिलित होते थे। इन अवसरों पर अधिकतर ईश्वर की ओर यात्रा करते समय का हलका फुलका और आनंदपूर्ण वातावरण हुआ करता था। अपने दोषरहित पाठ के द्वारा हम सबको तृप्त कर वे हम लोगों की प्रार्थना-सभा की शोभा बढ़ाते थे। स्वामीजी की अंतिम बीमारी के पूर्व के कुछ वर्ष मेरे लिए उनके साथ साहचर्य के अंतिम और शायद सबसे उत्तम अवसर थे। उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व पूर्ण रूप से परिपक्व हो चुका था। हर दृष्टि से वे एक वरिष्ठ सन्यासी थे। इसके उपरांत भी उनके भीतर का युवापन सहज ही देखा जा सकता था।

स्वामीजी के जीवन के शेष वर्षों में मुझे उनके स्नेहपूर्ण पत्र मिलते रहते थे। स्वयं के कष्ट और पीड़ा की उन्होंने कभी की शिकायत नहीं की। गंभीर शारीरिक बाधाओं के उपरांत भी उनका मन और आत्मा अधिकाधिक विस्तारित होते गये। अपने सद्गुणों और ज्ञान की निधि का उन्होंने मुक्त हस्त से वितरण किया। इस प्रकार से अनेक भले लोग स्वामीजी की कृपा और प्रेम पाकर धन्य हुए।

श्रेष्ठ महात्माओं की श्रेणी में स्वामी निर्वेदानन्दजी ने हमारे प्राचीन ऋषियों के आदर्शों के प्रति समर्पित जीवन का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

ऋषियों द्वारा प्रकाशित ये सत्य चिरन्तर एवं सर्वत्र विद्यमान हैं।

स्वामी ज्ञानानन्द,
बार्लोगंज, जिला- देहरादून

एक महान संत की संगति में

पूजनीय निर्वेदानन्द जी महाराज एक ऐसा प्रकाश पुंज है जो हिमालय में स्थित वशिष्ठ गुहा से उदित हुए और अनेक वर्ष कुर्था (गाजीपुर) के क्षितिज पर स्थिरता के साथ अपनी आभा विखेरकर अंत में अपना प्रकाश सर्वत्र बिखेरने हेतु सदैव प्रदीप्त अखंड ज्योति-परमात्मा के साथ एकरूप हो गये।

अपने गुरु के समान वह वैराग्य का मूर्त रूप थे। इस कलियुग में वह यथार्थ में एक महर्षि थे। अपनी स्वयं की कोई कामना न होने के कारण उन्होंने शरीर की न्यूनतम आवश्यकता से अधिक कुछ भी किसी से स्वीकार नहीं किया। 'मैं और मेरा' का कोई भाव उनमें नहीं था, यदि था तो केवल अपने गुरु और परमेश्वर में अटल विश्वास। इस संबंध में कुछ घटनाएं मुझे स्मरण हो आती हैं।

स्वामीजी के साथ एक लंबे समय तक आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात मैंने समर्पण के रूप में १५ रु. की राशि मनीऑर्डर द्वारा उन्हें भेजने का साहस किया। उन्होंने मनीआर्डर को अस्वीकार करते हुए लौटा दिया, साथ ही एक सुंदर पत्र भी लिखा जिसका संक्षेप में सार कुछ इस प्रकार था :

" 'धन को सदैव विपदाओं का एक कारण मानो' यह महान शंकराचार्य का परामर्श केवल गृहस्थों के लिए ही नहीं परन्तु मेरे समान संन्यासियों के लिए विशेष रूप से है। परमेश्वर कृपा से मेरी नित्य की आवश्यकताएं पूरी हो ही रही हैं, मैं इन पैसों का क्या करूंगा ?"

स्वयं के विषय में इतने विरक्त होने के उपरान्त भी एक बार जब वह अपने एक गुरुभाई के साथ कुछ दिन रहने के लिए गये थे तब गंगाजी की बाढ़ के कारण उसके तट पर बने उनके आश्रम की दुर्दशा देखकर उनकी आंखों में आंसू भर आये थे। स्वामीजी ने तुरन्त अपने अनेक परिचितों को पत्र लिखकर जो कुछ भी धनराशि वे भेज सकते थे वह

भेजने के लिए विनती की (मुझे भी उन्होंने इसके योग्य समझा था), जिससे कि उनके गुरुभाई अपने आश्रम को पुनः व्यवस्थित कर सकें।

स्वामीजी ने एक बार अपने संन्यासी जीवन के आरंभ के दिनों का एक अनुभव सुनाया था। अपने गुरुदेव से (जो मेरे भी सद्गुरू थे) संन्यास ग्रहण करने के कुछ ही दिन पश्चात् गुरुजी ने उन्हें केरल प्रांत में (स्वामीजी की जन्मभूमि) तीर्थयात्रा पर जाने के लिए कहा। इस यात्रा के दौरान सिकंदराबाद पहुंचने पर स्वामीजी ने पाया कि उनके पास भोजन तो दूर एक प्याली चाय के लिए भी पैसे नहीं है। न ही यात्रा के अगले पड़ाव तक पहुंचने का बस का किराया ही है। इस स्थिति में भी वे किसी प्रकार से किंचितमात्र भी विचलित हुए बिना निकट के ही एक छोटे से उद्यान में बेंच पर शांत भाव से प्रातः ७ बजे से ११ बजे तक बैठे रहे। उसी समय एक युवा विद्यार्थी उनके पास आया और साथ चलकर पास के ही भोजनालय में अपने साथ नाश्ता करने की विनती की। शांत भाव से स्वामीजी उसके साथ गये और इच्छा भर नाश्ता किया। चलते समय उस लड़के ने संकोच के साथ दो रुपये स्वामीजी के सम्मुख प्रस्तुत किये और इस बात की क्षमा मांगी कि उसके पास उस समय केवल उतनी ही राशि थी। स्वामीजी को अगले पड़ाव तक की यात्रा के लिए बस भाड़े के रूप में मात्र दो रूपये की ही आवश्यकता थी। स्वामीजी ने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उसने उनकी उस दिन की आवश्यकता की पूर्ति कर दी और वह आनंदपूर्वक बस स्टैंड की ओर चल पड़े।

आरंभ से ही स्वामी जी सख्त अनुशासन को मानने वाले थे और छोटे से भी कार्य में अत्यन्त व्यवस्थित हुआ करते थे। गुरु महाराज के जीवनकाल में भी वशिष्ठ गुहा आश्रम के अनेक सहवासी स्वामीजी से भय रखते थे और उनसे कुछ दूर ही रहते थे। किसी में कुछ ढिलाई देखते ही वे सादे परन्तु स्पष्ट शब्दों में उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट करते थे। कई लोगों को यह बात अच्छी नहीं भी लगती थी।

इसी के साथ वह बड़े विनोदप्रिय थे और सदैव प्रसन्नचित्त रहा करते

थे। स्वामीजी के अधिकतर विनोद स्वयं पर ही किये होते थे। एक बार जाड़े के आरम्भ के दिनों में वह कुछ दिन रहने हेतु मेरे घर पधारे। पहली रात सोने के लिए जाते समय उन्होंने ओढ़ने के लिए कंबल लेने से मना कर दिया। बाद में यदि जरूरत पड़े तो उसके लिए पास भी रखने नहीं दिया। रात में मैं और मेरी पत्नी पास के ही कमरे में बीच का दरवाजा हल्के से बंदकर शांत सो रहे थे। आधी रात के बाद जब जाड़ा बहुत लगने लगा और कंबल की जरूरत पड़ी तो स्वामीजी ने हमारे कमरे के दरवाजे के पास आकर कई बार 'ॐ' 'ॐ' की आवाज देकर हम लोगों को जगाने का प्रयास किया। दोनों में से किसी की भी नींद न खुलने पर स्वामीजी ने पूरी रात बिना पलक झपकाये जाड़े के कारण कष्ट में काटी। प्रात:काल में स्वामीजी ने रात की घटना का सहज ही उल्लेख किया तो मेरी पत्नी को बड़ा पश्चाताप हुआ और बोली, "स्वामीजी, रात को मैंने आपकी ॐ ॐ की आवाज सुनी तो अवश्य, परन्तु मुझे लगा कि कोई दिव्य आत्मा मधुर स्वर में ॐ ॐ का जप कर रही है, और मैं उसी ॐकार पर ध्यान लगाने का प्रयत्न कर रही थी। मैं जान ही नहीं पाई कि आप हमें जगाने का प्रयत्न कर रहे थे।" स्वामीजी मुक्तकंठ से हंस पड़े और बोले, "मुझे खुशी है कि मेरी परेशानी भी आपकी पत्नी के मन का ध्यान में प्रवेश का कारण बनी।" आध्यात्मिक चिंतन और ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होने के उपरान्त भी स्वामीजी में श्री रामकृष्ण परमहंस अथवा उनके अपने ही गुरुदेव के समान महान संतों में निश्चित रूप से दिखाई देने वाली बाल सुलभ सरलता थी। एक बार १९५९ के अंत में, जब मैं गुरुवायूर के मंदिर में दर्शन करने गया था तो मंदिर में स्वामी निर्वेदानन्द जी को भगवान श्री कृष्ण के सम्मुख आराधना करते देख मुझे आश्चर्य हुआ। भले ही वह मेरे गुरुभाई थे परन्तु घनिष्ठता तो दूर, आरम्भ के उन दिनों में मैं उनके साथ कहीं इधर ऊधर घूमा भी नहीं था। एक दूसरे से कुशल क्षेम पूछने के पश्चात् मैंने उनसे कुछ हिचकिचाहट के साथ मेरे साथ कोइंबतूर चलने की विनती की, जहां

मैं कुछ दिनों से एक होटल में रह रहा था। बिना किसी झिझक के एक बालक की उत्सुकता के साथ उन्होंने स्वीकृति दे दी। स्वामीजी के साथ मेरी निकटता का वह आरम्भ था। मेरा कोइंबतूर में निवास दफ्तर के कार्य से होने के कारण मैं उन्हें प्रात:काल में ही छोड़ देता था और शाम को लगभग ६ बजे तक लौट पाता था। परन्तु वे प्रतिदिन देर रात तक मेरे साथ गुरु महाराज के बारे में और आध्यात्मिक विषयों पर बातचीत किया करते थे। गुरुदेव के बाद स्वामीजी ही मेरे लिए आध्यात्म की राह पर दृढ़ता के साथ चलते रहने के लिए प्रेरणा का मुख्य स्रोत थे और आज भी हैं तथा वैराग्य का मूर्तरूप हैं। जब कभी मैं आध्यात्मिक निराशा से घिर जाता था तब या तो मुझे स्वामीजी से कोई सांत्वनापूर्ण पत्र प्राप्त होता था अथवा कई बार वह स्वयं मेरे घर (दिल्ली अथवा मेरठ में) कुछ सप्ताह के लिए भेंट हेतु आ जाते थे।

एक बार, शायद १९८० अथवा १९८१ में, मैं जोधपुर स्थित बॉर्डर रोड फोर्स के अतिथिगृह में मेरठ से शासकीय कार्य के सिलसिले में आकर रह रहा था। एक रात मैं अतिथिगृह की छत पर ध्यान लगाये बैठा था तो मुझे स्पष्ट आदेश सुनाई दिया "स्वामी निर्वेदानन्द के पास जाओ।" मैंने प्रथम सोचा कि यह कोई भ्रम है और कुछ देर बाद पुनश्च ध्यान में बैठ गया। फिर से उसी स्वर में वही आदेश सुनाई दिया। जैसे कि उसके उत्तर में, अपने ही मन में मैंने प्रतिप्रश्न किया, "मैं स्वामीजी के पास कैसे जा सकता हूं जो कुर्था में रहते हैं? कुर्था जाकर वापस लौटने हेतु मेरे पास कोई अतिरिक्त धन तो है नहीं। मेरी आय सीमित है और मुझसे इतनी दूर जाने की आशा कौन और कैसे कर सकता है? हाँ, स्वामीजी यदि आसपास, यानी दिल्ली, देहरादून या हरिद्वार में हों, तो मुझे उनसे जाकर मिलने में कोई आपत्ति नहीं होगी।" परन्तु कुछ देर बाद वही आदेश फिर से सुनाई पड़ा। उसकी पूर्ण उपेक्षा कर मैं सीधा सोने चला गया। दूसरे दिन जोधपुर में अपना लेखा-परीक्षण का कार्य समाप्त कर मैं अपने घर मेरठ पहुँचा। पहुँचते ही पत्नी ने स्वामी निर्वेदानन्द

जी का पत्र हाथ में दिया जो एक दिन पूर्व ही प्राप्त हुआ था।

स्वामीजी उन दिनों मसूरी के निकट बार्लोगंज में स्वामी ज्ञानानन्दजी के साथ, जो मूल रूप से विदेशी हैं और एक उच्च कोटि के संत हैं, निवास कर रहे थे। पत्र में स्वामीजी ने मुझे बार्लोगंज आकर कुछ दिन साथ बिताने का निमंत्रण दिया था। अपने विशिष्ट स्वभाव के अनुरूप पत्र में उन्होंने पूरी जानकारी के साथ नक्शा भी बनाकर भेजा था जिससे कि आश्रम पहुंचने में कोई असुविधा न हो। आश्चर्य की बात, अगले ही सप्ताह मेरा शासकीय कार्य से दो दिन के लिए देहरादून जाने का कार्यक्रम था। उसी के साथ मैंने कुछ दिनों की छुट्टी ली और इन दोनों महात्माओं के साथ सौभाग्य से प्राप्त होने वाले असीम आनन्द से पूर्ण कुछ दिन बिताये। मेरी आध्यात्मिक साधना में भी मुझे इसका काफी लाभ हुआ।

स्वामीजी के मेरे प्रति प्रेम की कोई सीमा नहीं थी, भले ही मैं इसके योग्य नहीं था। साधारणत: स्वामीजी अपने भक्त या मित्रों का (जो सन्यासी नहीं अपितु गृहस्थ होते थे) कुर्था और बाद के दिनों में गाजीपुर आना पसंद नहीं करते थे। इसके पीछे कारण यह था कि वे सोचते थे कि ऐसे अतिथि के आने पर कुर्था और गाजीपुर के उनके प्रशंसकों पर आतिथ्य का व्यर्थ का बोझ होगा। परन्तु १९८७ अथवा १९८८ में मैं जब गुरु महाराज के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने तथा 'भागवत सप्ताह' करने हेतु वशिष्ठ गुहा आश्रम गया था, स्वामीजी का पत्र पाकर पुलकित हो गया जिसमें उन्होंने मुझे दो दिनों के लिए गाजीपुर आने का निमंत्रण दिया था। आगे यह भी लिखा था कि मेरे मद्रास जाने हेतु वाराणसी से रेल के आरक्षण की व्यवस्था कर दी जायेगी। स्वामीजी के कैंसर से ग्रस्त होने के पश्चात् मुझे पहली बार गाजीपुर में उनके दर्शन हुए और उनके शरीर की स्थिति देखकर मेरे मूक अश्रु बह निकले। स्वामीजी तथा उनके प्रशंसकों के साथ मैंने दो दिन परम आनंद में बिताये। स्वामीजी के समान उनके अनुयायी भी सात्विक प्रवृत्ति के हैं और मेरे आतिथ्य हेतु उनमें जैसे स्पर्धा हो रही थी जिससे मैं स्वयं ही संकोच का अनुभव कर रहा था। १९८९

में एक बार फिर, जब मैं वशिष्ठ गुहा में था, मुझे स्वामीजी से इसी प्रकार का आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु प्रस्थान के समय मेरे एक पुराने गुरुभाई श्री मदन बाबू भी स्वामीजी के दर्शन हेतु मेरे साथ हो लिये। चूंकि पूर्व में स्वामीजी ने मदन बाबू को गाजीपुर आने से स्पष्ट रूप से मना किया था, इस कारण उन्हें मेरे साथ देखकर स्वामीजी मेरा स्वागत किस प्रकार करेंगे, यह सोचकर मैं अन्दर ही अन्दर भयभीत था। परन्तु स्वामीजी वैसी ही आत्मीयता से मिले और मदनबाबू के साथ भी वही प्रेमपूर्ण व्यवहार किया जैसा कि मुझे मिलता था। पिछले वर्ष (१९९० में) मई मास के आस पास हमारे एक अन्य गुरुभाई, दिल्ली के श्री एम.के. मल्होत्रा, जिनसे स्वामीजी को विशेष रूप से स्नेह था और जिनके घर स्वामीजी अपनी दिल्ली यात्रा के दौरान कुछ दिनों के लिए रुकते थे, स्वामीजी के दर्शन करना चाहते थे। इस बार स्वामीजी ने श्री मल्होत्रा को गाजीपुर आने से स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया। इसका कारण यह था कि स्वामीजी श्री मल्होत्रा की ढलती आयु और कमजोर स्वास्थ्य से पूर्णरूप से अवगत थे। श्री मल्होत्रा ने इस सम्बन्ध में मुझे वशिष्ठ गुहा में पत्र लिखा तो मैंने उन्हें स्वामीजी के पत्र पर ध्यान न देकर उनके दर्शन हेतु जाने की सलाह दी। मैंने उन्हें लिखा कि ऐसे महान संत और आदर्श संन्यासी बिरले ही होते हैं और उन्हें ऐसे संत के दर्शन कर कुछ समय उनके साथ बिताने का अवसर नहीं खोना चाहिए। गाजीपुर में मल्होत्रा जी के अपने भी सम्बन्धी होने के कारण वे उनके घर रह सकते थे। मल्होत्राजी ने मेरी बात मान ली और गाजीपुर जाकर मेरा पत्र स्वामी जी को दिखाया। स्वामीजी हंस दिये परन्तु मुझे पत्र लिखकर उनके बारे में अन्य लोगों में प्रचार करने के लिए हल्की डांट भी लगायी। गुरु महाराज के समान स्वामीजी भी अपने अज्ञात रहने में ही प्रसन्न रहते थे और उनके सम्मुख अथवा पीछे किसी प्रकार से उनकी प्रशन्सा करना पसन्द नहीं करते थे।

मेरी स्वामी जी के साथ उनकी महासमाधि के कुछ ही दिन पूर्व १९९० में हुई अंतिम भेंट अविस्मरणीय है। जैसे ही मुझे गाजीपुर से स्वामीजी

के तेजी से बिगड़ते स्वास्थ्य और उनके बीच बीच में विस्मृति हो जाने के विषय में पत्र मिला, मैंने तुरन्त गाजीपुर जाकर स्वामीजी से मिलने का निश्चय किया। मेरी पत्नी इस बारे में मुझसे अधिक उत्सुक थी। स्वामीजी ने हम दोनों को वाराणसी से साथ ले आने के लिए विशेष रूप से अपने एक अनुयायी को कह रखा था। यह सब उस स्थिति में था जब उनका बोन मैरो कैंसर अंतिम अवस्था में था। उनके शरीर में स्थान स्थान पर पैथोलोजिकल फ्रैक्चर हो चुके थे जिस कारण गर्दन से नीचे किसी प्रकार से शरीर को हिलाना डुलाना उनके लिए सम्भव नहीं था। लगता है स्वामीजी प्रतिदिन स्वयं को हम लोगों के आने की याद दिला रहे थे। हम दोनों पति पत्नी वहां पहुंचे और महाराज के चरणों में गिर पड़े। मुझे स्वामीजी के अलावा अन्य कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। परन्तु आरम्भ में तो मुझे स्वामीजी दिखाई ही नहीं दिए। दिखाई दिया केवल करुणा से परिपूर्ण एक तेजोमयी प्रकाश का पुंज। धीरे-धीरे मैं होश में आया और उनके स्मित करते चेहरे का मुझे भान हुआ - संपूर्ण शांति - असीम शांति! वह दृश्य मेरे मन: पटल पर सदैव के लिए अंकित हो गया है। मेरे मुख से कुछ भी शब्द नहीं निकले परन्तु आंखें आंसुओं से भर आयी। केवल हृदय हृदय से बात कर रहा था। मेरी मौन उपस्थिति में स्वामीजी मेरी पत्नी के साथ घंटों बातें करते रहे और उसकी सारी जिज्ञासाओं का समाधान करते रहे। मुझे केवल रणक्षेत्र में शरशय्या पर लेटे लेटे धर्मराज को धर्म का उपदेश देने वाले भीष्म पितामह का स्मरण हो आया। बड़े सुबोध तरीके से वे समझा रहे थे और किसी बात को स्पष्ट करने के लिए अपने जीवन की घटनाओं का नाम और तिथि के साथ उल्लेख भी कर रहे थे। बीच बीच में उन्हें वेदना और चेहरे अथवा पलकों के अनियंत्रित खिचाव के कारण रूकना पड़ता था। वे कितनी शारीरिक वेदना को सहन कर रहे थे इसकी मैं कल्पना कर सकता हूँ। परन्तु उनका मुख प्रफुल्लित, शान्त और करूणा से परिपूर्ण था। उनका शरीर जिन नारकीय यातनाओं से गुजर रहा था, उसका लेश मात्र भी प्रभाव उन पर नहीं दिखता था।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न मेरी पत्नी ने स्वामीजी से पूछा, ''स्वामीजी, आपके समान व्यक्ति जो सात्विकता की प्रतिमूर्ति है, जिसने सदैव आध्यात्म की साधना की हो, और जिसने चीटीं को भी हानि न पहुंचाई हो, उसे यदि कैंसर समान शारीरिक कष्ट भोगने पड़े तब जनसाधारण का परमेश्वर और शुद्ध जीवन पर से विश्वास उठ जायेगा। परमेश्वर ऐसे कष्ट उन लोगों को क्यों देता है जो कभी इनके योग्य नहीं रहे?'' स्वामीजी मुस्कुरा दिये और आरम्भ में तो इसे पूर्व जन्मों के कर्मों का संभावनीय परिणाम बताते रहे। अंत में बोले, ''मैं ऐसा व्यक्ति हूँ जिस पर कोई निर्भर नहीं है। यदि यह बीमारी किसी गृहस्थ को हो जाती जिस पर पत्नी बच्चों आदि का भार है, तो उसके लिए यह कितनी महान विपत्ति होती? इस कारण यह ठीक ही है कि बीमारी ने मुझे पकड़ लिया।'' स्वामीजी के इस उत्तर में छिपा अर्थ मेरी पत्नी को पूर्णत: समझ न पाते देखकर मैंने स्वामीजी से स्पष्ट पूछा, ''स्वामीजी, इसका अर्थ क्या यह है कि आपने जानबूझकर यह विपत्ति करूणापूर्वक स्वयं पर ओढ़ ली?'' स्वामीजी मौन रहे। हम दोनों के कई बार पूछने पर बहुत अनिच्छा से निश्चय से कुछ न कहते हुए केवल इतना ही बोले, ''ऐसी घटनाएं संभवनीय हैं।'' अगले दिन मैं और मेरी पत्नी प्रात:काल से ही लगभग ११ बजे तक उनसे बाते कर रहे थे फिर भी मेरी पत्नी ने एक बार फिर दोपहर को लगभग दो बजे बस स्टैंड जाते समय उनके दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। मैंने धीरे से उससे कहा, ''हम लोग स्वामीजी से विदा ले चुके हैं। दोपहर को वे विश्राम कर रहे होंगे और उस समय उनके विश्राम में बाधा डालना उचित नहीं होगा।'' स्वामीजी बीच में ही ऊँचे स्वर में बोले, ''आप क्या कह रहे है? ये बेचारी मुझसे मिलने हेतु इतनी दूर मद्रास से आयी है और आप क्या सोचते हैं स्वामीजी के पास समय नहीं होगा और वे विश्राम करेंगे? नहीं, नहीं, बस-स्टैंड जाते हुए उन्हें मेरे पास आने दीजिए और कुछ समय यहां बिताने दीजिए।'' क्या करूणा इससे ऊंचे शिखर को छू सकती है? ओह स्वामीजी! मैंने पूर्वजन्म में ऐसे कौन से पुण्य

कर्म किये जिसके फलस्वरूप मैं आपसे ऐसा प्रेम पाने का पात्र बन पाया?

स्वामी जी देहभाव से परे परमतत्व में स्थापित एक सच्चे संत थे। ऐसी पवित्र आत्माओं के सम्बन्ध में विचार तथा स्मरण सदा स्वयं को आलोकित करने वाले होते हैं। स्वामी जी की असीम करुणा हम सभी को जीवन के अंतिम लक्ष्य परमतत्त्व की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा और मार्गदर्शन प्रदान करती रहे।

- के.वी. जानकीरमणन

(स्वामी निर्वेदानन्दजी के एक गुरुभाई)

स्वामी निर्वेदानंद जी महराज

द्वारा रचित लेख एवं कविताएं
तथा
उनके कुछ पत्र

ॐ

गुरु

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।

लाखों हिंदुओं द्वारा प्रतिदिन पाठ किया जाने वाला यह एक अतिशय प्रचलित श्लोक है। अर्थ स्पष्ट है: ''गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु ही महेश्वर शिव है। गुरु ही साक्षात परब्रह्म है। ऐसे आराध्य श्री गुरु को नमस्कार है।'' हिंदू धर्म की मान्यता के अनुसार गुरु को न केवल संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय के कारण क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की त्रिमूर्ति से अभिन्न माना गया है, अपितु उस अद्वितीय परब्रह्म से भी अभिन्न कहा गया है जो इन तीनों से परे है। गुरु का स्थान इस प्रकार सर्वोच्च है। 'गुरु' शब्द को अक्षरशः देखें तो इसका अर्थ होगा-वह जो (अविद्या का) अंधकार दूर करे। 'गु' अर्थात अंधकार तथा 'रु' अर्थात दूर करने वाला। यह अर्थ तो धार्मिक मान्यताओं के अनुसार है। साधारण भाषा में भी 'गुरु' शब्द का विचार करें तो इसका अर्थ होगा- 'वजन में भारी'। केवल शाब्दिक दृष्टि से भी 'गुरु' की ऐसी महानता को देखते हुए मेरे समान अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति का इस विषय में कुछ कहने का साहस करना धृष्टता ही होगी। परंतु मैं श्री पुष्पदंत के उस कथन से इशारा पाकर इस प्रयास में उद्यत हुआ हूं कि गुरु महिमा का चिंतन करने में मेरी वाणी और मन शुद्ध हो सके।* केवल इसी आशा ने मुझे इस विषय

श्री अय्यप्पा मंदिर, हरिद्वार की १४ जनवरी (मकर संक्रान्ति) १९७७ की स्मारिका में प्रकाशित अंग्रेजी लेख का अनुवाद।

*मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः।
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥
(शिवमहिमा स्तोत्र ३)

पर लिखने का साहस करने को उद्यत किया जिसकी मैं क्षमा याचना करता हूँ।

II

आध्यात्मिक साधक के लिए किसी गुरु की अनिवार्यता की कभी भी अवहेलना नहीं की जा सकती है। हमारे संसारिक जीवन में भी, चाहे अ, आ, ई सीखने वाला छोटा बालक हो या मोटर कार चलाना सीखने वाला युवक हो, उसे स्वयं को किसी ऐसे शिक्षक के हाथों में सौपना ही पड़ता है जो उस कार्य में निपुण हो। ऐसी स्थिति में उस साधक के लिए यह कितना अधिक आवश्यक होगा जिसे उस कठिन मार्ग पर चलना है जो 'उस्तरे की धार के समान' दुष्कर कहा गया है? यह वस्तुस्थिति ब्रह्मविद्या का विचार करने वाले उपनिषदों से स्पष्ट होती है। आत्मा तथा ब्रह्म के विषय में सत्य के ज्ञान की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु किसी दृष्टा ऋषी के पास जाता है, जो उसे उसके अंत:करण की शुद्धता के अनुरूप कुछ और तपस्या करने को कहते हैं तथा अंत में उसे परमज्ञान प्रदान करते हैं, यह वेदान्त साहित्य का एक चिर परिचित दृश्य है। सीधे श्रुति तथा स्मृति से भी हमें गुरू की अनिवार्यता के संबंध में अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं।

(i) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत-

"उठो, जागो (अज्ञान की निद्रा से) और प्राप्त करो (आत्मज्ञान को), श्रेष्ठ (ज्ञानीजनों) के निकट जाकर-" कठोपनिषद् (१.३.१४)

(ii) मुंडकोपनिषद् (१.२.१२) में भी विशेष रूप से कहा गया है कि: तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्- "उसे (आत्मज्ञान को) प्राप्त करने हेतु (मुमुक्षु को) किसी गुरु के पास जाना चाहिए...।" श्री शंकराचार्य इस कथन का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु स्वतंत्र रूप से अग्रसर नहीं होना चाहिए। वे कहते हैं कि उपरोक्त

कथन में 'इवा' शब्द का प्रयोग इसी बात पर जोर देने के लिए किया गया है। (शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्ज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतत् गुरुमेव इत्यवधारणफलम्)।

(iii) भगवद्गीता में भी (४.३४) स्पष्ट रूप से कहा गया है: तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया- "उस (परमज्ञान) को (गुरु के सम्मुख) दंडवत प्रणाम पर, उनकी सेवा कर निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न कर प्राप्त करो।"

(III)

इस प्रकार शास्त्र वचनों से तथा अपने स्वयं के विचार से हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि अध्यात्म के मार्ग में हमें यदि प्रशस्त होना हो तो गुरु का होना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। परंतु समस्या यह उत्पन्न होती है कि एक योग्य तथा वास्तविक गुरु की पहिचान एवं चुनाव कैसे किया जाए? उसकी क्या योग्यता होनी चाहिए? देखें इसके उत्तर में श्री शंकराचार्य क्या कहते हैं। एक आदर्श गुरु का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :"आदर्श गुरु वह है जो वेदों का ज्ञाता हो, पाप रहित तथा वासना रहित हो, पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो तथा ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो, ईंधन समाप्त हो जाने के पश्चात् की अग्नि के समान शांत हो, अकारण असीम करुणा का सागर हो और उसके सम्मुख आकर दंडवत प्रणाम करने वाले सभी सज्जनों के प्रति मैत्री भाव रखता हो।" (विवेकचूडामणि, ३३)* पुन:, ऐसा कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है जिससे गुरु की शरण जाने के पूर्व उसकी आध्यात्मिकता को मापकर उसकी सच्चाई को परखा जा सके। हममें केवल दृढ़ विश्वास होना चाहिए। वशिष्ठ गुहा के संत श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी कहते हैं, "सद्गुरु की प्राप्ति भी हमारे पिछले कर्मों पर निर्भर करती है।" वे आगे कहते हैं :"अनेक लोग मन में शंका रखते हैं कि क्या गुरु पर श्रद्धा रखना ही पर्याप्त है? उन्हें इस बात का भय

* विवेकचूडामणि के इस श्लोक तथा इस लेख में उध्दृत अन्य श्लोकों का अर्थ अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित स्वामी माधवानंदजी की पुस्तक के अनुसार है।

होता है कि कोई उनका अनुचित लाभ न उठा ले अथवा उन्हें भटका न दे। यद्यपि किसी सामान्य गुरु द्वारा आवश्यक योग्यता न होने पर इस प्रकार के शोषण की संभावना होती है, फिर भी हमें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि हम एक शाश्वत नियमानुसार चलनेवाले जगत में रहते हैं तथा बहुधा हमें वही प्राप्त होता है जिसके हम अधिकारी होते हैं। कोई साधक यदि सचमुच साधना के प्रति तत्पर है तथा उसमें ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा है, तो इस बात की संभावना नहीं के बराबर है कि वह किसी धोखेबाज व्यक्ति के हाथों में पड़ जायेगा। घटनाएं केवल संयोग से नहीं परंतु कर्म के नियम के अनुसार घटित होती हैं... इसके अलावा हमारा अंत:करण जितना शुद्ध होगा, हमारी विवेकशक्ति तीव्रतम होगी तथा एक विवेकशील अंत:करण के कारण हमारे द्वारा किसी अयोग्य व्यक्ति को गुरु के रूप में चुनने की संभावना नहीं रहेगी। बहुधा धोखेबाज लोग ही धोखेबाज गुरुओं के चक्कर में फंसते हैं।''

(IV)

शिष्य गुरु के प्रति नि:संकोच भाव से आत्मसमर्पण कर अपने उद्धार हेतु अपनी श्रद्धा उन्हीं पर केंद्रित कर देता है। इस प्रकार की अनन्य भक्ति रखने वाला शिष्य न तो कभी विचलित होता है न ही गुरु के उपदेशों पर शंका का भाव रखता है; न ही वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति की आशा में एक गुरु से दूसरे गुरु के पास भागता रहता है। यदि कोई कुआं खोदना चाहता है तो उसे किसी निश्चित स्थान का चुनाव कर उसी स्थान पर तब तक खोदते जाना चाहिए जब तक पानी न मिल जाये। यदि वह स्थान बदल-बदल कर खुदाई करता रहे तो उसे पानी कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा। उसका सारा प्रयास केवल शक्ति, समय, तथा धन का अपव्यय ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार से हमारे लिए किसी एक गुरु को स्वीकार कर उसी के मार्गदर्शन के अनुसार साधना करते जाना उचित होता है। भगवान शिव पार्वती से कहते हैं, ''गुरु के पास जो ज्ञान है वह केवल

गुरु भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है।''* गुरु भक्ति के महत्व पर श्रुती ने भी बल दिया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है कि आध्यात्मिक सत्य उसी में प्रकट होता है जिसकी ईश्वर के प्रति परम भक्ति हो तथा उसी अनुपात में गुरु के प्रति भी भक्ति हो- यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ- (६.२३)। वह गुरु जो स्वयं इस भयावह संसार सागर को पार कर चुका है तथा बिना किसी प्रयोजन के अन्य लोगों को भी इसे पार करने में सहायता करता है, वह वास्तव में महात्मा है। ऐसे गुरु की महानता की किसी अन्य से तुलना नहीं की जा सकती। गुरु की महानता का वर्णन करते हुए भगवान शिव पार्वती से कहते हैं: यदि शिव किसी से कुपित हो जायें तो उसके गुरु के रूप में उसकी रक्षा करने वाला उसे मिल सकता है, परंतु यदि गुरु क्रुद्ध हो जाये, तो उसे कोई बचा नहीं सकता।''** गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस में शिवजी के इसी कथन को स्पष्ट करने वाला एक प्रसंग आता है जो इस प्रकार है:

एक शिष्य अपने गुरु के द्वारा प्रदान की गयी दीक्षा के अनुसार शिवजी के मंदिर में बैठकर जप पर रहा था। अपने नीच कुल में जन्म तथा सुसंस्कृत न होने के कारण दीक्षित होने के पश्चात् सात्विक होने के स्थान पर वह अत्यधिक अहंकारी हो गया था। उसके गुरु ने उसे अपने उपदेशों की अवहेलना करता देख तथा उसके द्वारा स्वयं अपमानित होते हुए भी उससे कुछ नहीं कहा। जब वह शिष्य उस मंदिर में जप कर रहा था, उसके गुरु का भी वहीं आगमन हुआ। शिष्य के मन में अहंकार भरा होने के कारण उसने अपने गुरु को वहां आया देखकर अपने आसन में उठकर उन्हें प्रणाम तक करने की चिंता नहीं की। गुरु ने अपने स्वभाव के अनुसार शिष्य के इस दुर्व्यवहार को महत्व नहीं दिया परंतु गुरु के प्रति किया गया यह आचरण भगवान को सहन नहीं हुआ। उस धृष्ट शिष्य

---

*गुरुवक्त्रे स्थिता विद्या गुरुभक्त्या च लभ्यते। - (गुरु गीता)

**शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन। - (वही)

को शाप देने वाली वाणी वहां उसी समय सुनाई पड़ी, "हे पापी, जब तुम्हारे गुरु यहां आये तब तुम एक अजगर के समान अपने स्थान से बिना हिले बैठे रहे। तुम्हारी इस धृष्टता के कारण तुम एक विशाल पेड़ के बिल में सांप बनकर रहो।" शिष्य को अपनी धृष्टता का आभास होने पर वह भय से थर-थर कांपने लगा। भगवान से उसे शाप दिया था परंतु गुरु के मन में उसके प्रति दया का भाव था। इस कारण गुरु ने उस शिष्य को भगवान के कोप से बचाने हेतु उनकी स्तुति एवं प्रार्थना की और भगवान को अपने शाप में परिवर्तन कर उसे कुछ कम करना पड़ा।*

उत्तर भारत में गुरु द्वारा भगवान शिव की यह स्तुति 'रुद्राष्टक' बहुत लोकप्रिय है।

आधुनिक काल में भी संतों ने गुरु की महानता का वर्णन किया है। वाराणसी स्थित ऊर्ध्वमान्य पीठ के भूतपूर्व शंकराचार्य श्री स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती जो विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता थे, कहा करते थे: "यदि कोई व्यक्ति अपने ईष्ट की दैनिक पूजा का आरंभ कर चुका हो, एक दिन पूर्व चढ़ाये गये पुष्प इत्यादि अपने ईष्ट से हटा चुका हो तथा उसी क्षण यदि उसके गुरु का वहां आगमन हो जाये, तो उसे अपना पूजन उसी स्थिति में रोक देना चाहिए। उनको प्रणाम कर, गुरु को आसन प्रदान करना चाहिए तथा धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि से शेष पूजन उनका करना चाहिए। तत्पश्चात् वह अपने ईष्ट देव का शेष पूजन पूर्ण कर सकता है। भगवान उसके इस कार्य से प्रसन्न ही होंगे।** यह बात शास्त्रों के एक महान ज्ञाता द्वारा कही जाने के कारण एक प्रकार से गुरु की महानता पर यह शास्त्र प्रमाण ही है।

एक भक्तकवि द्वारा रचित इन पंक्तियों से उत्तर भारत के लोग सुपरिचित हैं:

> गुरु गोविंद दोऊ खड़े काको लागूं पांय।
> बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय॥

---

* रामचरितमानस-उत्तरकांड

** स्वामी महेश्वरानंदजी के एक ज्ञानी शिष्य द्वारा निरुपित।

श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने भी गुरु तथा इष्ट देवता के प्रति तथाकथित बटी हुई निष्ठा के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस संबंध में कुछ संकेत देने के पश्चात् वे कहते हैं, : "इष्ट देवता तथा गुरु दोनों के प्रति एकनिष्ठ भक्तिभाव रखने में प्रतीत होने वाली कठिनाई, उन दोनों का स्वरूप तथा उनके परस्पर संबंध के बारे में हमारी भ्रान्ति के कारण है। वास्तव में इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। सद्गुरु वास्तव में ईष्टदेवता का मूर्तरूप है तथा उसे उसी प्रकार समझना चाहिए। तब हमारे सम्मुख बंटी हुई निष्ठा की कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। हम पत्थर की मूर्ति में ईश्वर की पूजा करते हैं। हम उसी परमेश्वर का गुरु की जीती जागती मूर्ति में, जो कि वह वास्तव में है, पूजन क्यों नहीं कर सकते?"* ये सारे आख्यान, शास्त्रवचन तथा आधुनिक काल के महापुरुषों के उपदेश जीवन के अंतिम लक्ष्य-मोक्षप्राप्ति हेतु साधना करने वाले साधक के लिए गुरु की महानता को वर्णित करते हैं। उस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात सारे भेद मिट जाते हैं तथा किसी प्रकार का द्वैत शेष नहीं रहता-गुरु और शिष्य के बीच का भेद भी नहीं। उस उच्च स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् शिष्य क्या अपने गुरु को पूर्णतः भूल जाता है जिसने उसे उस परम पद को प्राप्त करने में सहायता की? नहीं, उस स्थिति को पा लेने के पश्चात् भी गुरु की महानता में कोई कमी नहीं आती।

शंकराचार्य कुछ ही श्लोकों में उस दृश्य का बड़ा ही सजीव चित्रण करते हैं कि कैसे कोई शिष्य, समाधि की परमस्थिति को प्राप्त कर परमानन्द से ओतप्रोत होकर अपने गुरु के प्रति, जिसके कारण वह उस स्थिति को प्राप्त कर सका, अपनी कृतज्ञता को शब्दों में व्यक्त करता है। इनमें से एक श्लोक में कहा गया है, "भाग्यशाली हूं मैं कि मैंने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है और पुर्नजन्म के चंगुल से मुक्त हूँ,

---

*'Spritiual Talks' से

पूर्ण हूँ मैं, नित्यानन्द हूं मैं-यह समस्त आपके अनुग्रह के कारण सम्भव हुआ।''*

एक अन्य विद्वान श्री ताण्डलराय स्वामी, अपने कैवल्य नवीनतम नामक पुस्तक में, जो तमिल भाषा में अद्वैत वेदान्त पर लिखी गयी उत्कृष्ट रचना है, दो पदों के माध्यम से शिष्य का गुरु के प्रति भाव तथा गुरु के उपदेश का बड़ा सुन्दर चित्रण करते हैं। उसके मुख्य भाव कुछ इस प्रकार से हैं :शिष्य आनंदमग्न हो गा रहा है, ''प्रणाम् है आपको हे पिता! आप, जो मेरे अंतर्यामी हैं, जन्म जन्मान्तर से मार्ग-दर्शन करते आये हैं और परमज्ञान प्रदान करने तथा मुक्ति का अनुदान करने इस जन्म में गुरु के रूप में प्रत्यक्ष हैं। हे प्रभो, हे गुरुदेव, आपके इस अनुग्रह का ऋण मैं किस प्रकार चुका पाऊंगा। मैं आपके श्री चरणों में बार बार प्रणाम करता हूँ।''(I.86)और सद्गुरु दक्षिणा के रूप में किस बात की मांग करते हैं? वह विशाल हृदय ज्ञानी, अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप, प्रेमपूर्ण स्वर में कहता है: ''हे वत्स, यदि तुम किसी प्रकार की शंका अथवा अज्ञान इत्यादि को पुन: कोई स्थान दिये बिना अपने स्वरूपज्ञान में प्रतिष्ठित होकर रहो, तो वह मेरा सबसे उत्तम पुरस्कार होगा।''(I.87) गुरु के प्रति शिष्य का यह ऋणी भाव बीज रूप में श्रुती में भी मिलता है। श्रुती काल के पश्चात् के प्रकरण ग्रन्थों में, जैसे कि ऊपर वर्णन किया गया है, विस्तार कर सजीव चित्रण के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है। एक श्रुती वचन में कहा गया है :ते तमर्चयन्त: त्वं हि न: पिता योऽस्माकमविद्याया: परं पारं तारयसि-

''उनका पूजन कर (शिष्यगण) कहते हैं, ''आप हमारे पिता हैं जिसने हमें अविद्या के दूसरे किनारे पर पहुंचा दिया।''**

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि गुरु की तुलना में अन्य किसी

---

*धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरुपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्॥ (विवेक चूड़ामणि, ४८८)
** प्रश्नोपनिषद, ४/८

का स्थान नहीं है, वे सदैव महान हैं तथा उनसे महान अन्य कोई नहीं-गुरो: परतरं नास्ति। इसी कारण सद्गुरु को खोज पाना कठिन होता है। श्री शंकराचार्य भी, मनुष्यत्व मुमुक्षत्व के साथ-साथ महापुरुषसंश्रय अर्थात किसी आत्मज्ञानी व्यक्ति का आश्रय प्राप्त होना, बड़े दैव से प्राप्त होने वाली वस्तु मानते हैं।* परंतु इससे निराश होने की कोई बात नहीं है। जैसे कि आरंभ में ही कहा गया है, यदि किसी के मन में ईश्वरप्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञान की सच्ची प्यास है तो उसके लिए सद्गुरु की प्राप्ति निश्चित है। यदि यह शंका पुन: मन में आये कि किसी व्यक्ति विशेष को गुरु के रूप में चुनने का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है तो केवल यही कह सकते हैं कि इसके लिए हमारा अन्तर्बोध ही हमारा मार्गदर्शन करता है। जैसी कि उक्ति है, ''हृदय को उसका कारण ज्ञात होता है जो तर्क से ज्ञात नहीं हो सकता।'' सद्गुरु के चुनाव के विषय में भी यह कथन पूर्णत: उपयुक्त है।

यह लेख समाप्त करने के पूर्व मैं अपने गुरुदेव के श्री चरणों में कृतज्ञ प्रणाम अर्पित करता हूँ जिनके अनुग्रह के कारण ही मैं इतने उदात्त विषय पर यह लेख लिखने में समर्थ हो सका। इस लेख में जो कुछ भी ग्रहणीय विचार आये हैं, वे सब उन्हीं के कारण हैं तथा असार और असावधानी से व्यक्त किये गये विचारों का उत्तरदायित्व केवल मेरा है।

उस परमगुरु की कृपा सभी को सदैव प्राप्त होती रहे!

ॐ शान्ति! शान्ति! शान्ति!

***विवेकचूडामणि - ३**

उत्तरायण

मकर संक्रान्ति की पूर्व सन्ध्या पर अध्यात्म का कोई साधक चिंतन कर रहा है:

''सूर्य की उत्तर दिशा की ओर यात्रा, उत्तरायण का आरंभ मकर संक्रान्ति (१४ जनवरी) को होता है। लोग उत्साहपूर्वक इसका स्वागत करते हैं। जाड़े की लंबी रातें धीरे-धीरे छोटी होने लगती हैं तथा दिन गर्म, प्रकाशवान एवं लंबा होने लगता है। इसके पूर्व के छ: मास की अवधि, सूर्य की दक्षिण दिशा में यात्रा-दक्षिणायन का काल एक प्रकार से 'अंधकार का समय' माना जाता है जिसमें विवाह इत्यादि शुभ कार्य आयोजित नहीं किये जाते। उत्तरायण के आगमन के साथ ही इन आयोजनों का भी आरंभ होता है और विवाह योग्य कन्याओं के माता-पिता के मन में यह दिन आशा की किरण लेकर आता है। सर्वसाधारण के लिए भी उत्तरायण का पर्व उत्साह और कार्यशीलता का संचार करने वाला होता है। अपने चारों ओर के जगत में हम यही स्थिति देखते हैं। परंतु क्या यह केवल बाह्य जगत में घटित होने वाली एक भौतिक घटना मात्र है अथवा इसका हमारे अंर्तजगत में अपने स्वयं के व्यक्तित्व के संदर्भ में कुछ गूढ़ अर्थ है?''

कुछ इसी प्रकार के प्रश्न मन में लेकर शिष्य उनका समाधान प्राप्त करने हेतु अपने गुरु के पास जाता है:

शिष्य :

हे महात्मन्,
उत्तरायण के आगमन के साथ प्रकृति में गोचर सारे परिवर्तन
क्या कुछ अर्थ रखते हैं उसके लिए
जो निकल पड़ा है अंतिम लक्ष्य के मार्ग पर?

२, मार्च, १९८२ के 'भवन्स जर्नल' में मूल अंग्रेजी में प्रकाशित।

गुरु :

उचित है प्रश्न तुम्हारा वत्स!
बुद्धिमान हो तुम निश्चित ही
जानो इन सबको प्रतीकमात्र
गहन अर्थ रखने वाले
क्या है यात्रा
कहां है उत्तर
क्या है सूर्य
ध्यान से सुनो धैर्य पूर्वक।

ऊर्ध्व भाग शीश का
उत्तर है मानव में,
आध्यात्मिक शक्ति ही
सूर्य है उसमें।

मूलाधार से चलकर
उसी शक्ति की (जो कुंडलिनी कहलाती है)
ऊर्ध्व दिशा में यात्रा
आरंभ है साधक में उत्तरायण का
निकल पड़ा है जो अध्यात्म की राह पर।
अज्ञान का अंधकार
और उससे उत्पन्न विषाद
मिटता जाता है धीरे-धीरे
जैसे-जैसे उठता जाता है सूर्य उसमें
ऊर्ध्व की ओर।
आनंद की बूंद-बूंद का
अनुभव करता है साधक

जैसे-जैसे शक्ति
करती जाती है यात्रा।
पहुंच जाती जब शक्ति
सहस्रार में,
चरमोत्कर्ष हो जाता तब
उत्तरायण का
परम शांति एवं परमानन्द को
प्राप्त होता है साधक
पाकर अपने ही आत्मस्वरूप को
पार हो जाता है वह पुनर्जन्म के भी।

शिष्य :

है श्रद्धेय महात्मन्!
आपके अमृत तुल्य वचनों ने
प्रदान किया है मुझे आज
ज्ञान का निधान
परंतु शंकित हूँ मैं
एक अन्य घटना के संदर्भ में....

गुरु :

कह दो वत्स!
करो न संकोच।
होगा समाधान उसका भी।

शिष्य :

कहते हैं, भीष्म तो थे आत्मज्ञानी
फिर भी पड़े रहे वे क्यों अनेक दिवस शरशय्या पर
प्रतीक्षा करते हुए
सूर्य की उत्तर दिशा में यात्रा की
शरीर त्याग करने हेतु?

नहीं है उत्तर अथवा दक्षिण
आत्मज्ञानियों के हेतु
परंतु संभव है कि यह दिखाने के लिए
कि इच्छा मृत्यु होती है आत्मज्ञानी की,
प्रतीक्षा करते रहे भीष्म
उस दिवस विशेष की।
अथवा,
रूपक का ही करें विचार
तो कह सकते हैं हम,
प्रतीक्षा करते रहे भीष्म
केवल शिक्षा देने हमको
कि आनन्द प्राप्ति होगी तभी
जब आध्यात्मिक शक्ति होगी अग्रसर
उत्तर दिशा में।

स्मरण है न वत्स तुम्हें
वैदिक वचन?
कहते हैं शास्त्र
असंदिग्ध शब्दों में:
''यदि 'उसका'* अनुभव हो गया
(इसी जन्म में)
यहीं इसी संसार में,
तभी सार्थक होगा जीवन;
अन्यथा सर्वनाश है निश्चित''**
इस प्रकार,
प्रतीक मात्र है ये प्रसंग

गूढ़ सत्य छिपाये हुए।
चिंतन करो गहन
उतर जाओ गहराई में।
प्राप्त कर लोगे निश्चित ही
मुक्ताफल तुम
हमारी प्राचीन प्रज्ञा के

शिष्य :

प्रणाम आपको हे महात्मन्!
ज्ञानोदय हुआ है मुझमें
आपके इन उदात्त उपदेशों से
प्रणाम है आपको बारंबार।

---

*ब्रह्म
**केनोपनिषद, ॥ ५ ॥

ॐ : अभिप्राय और अक्षर

" 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'-यह समस्त जगत अक्षर ॐ है", मांडुक्य उपनिषद में कहा गया है। प्रश्नोपनिषद में भी विशेषरूप से कहा गया है कि ॐ ही वस्तुतः परोक्ष एवं अपरोक्ष ब्रह्म है, अर्थात, अव्यक्त परब्रह्म तथा व्यक्त हिरण्यगर्भ।

उपनिषदों में इसे ब्रह्म के नाद प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है तथा मुंडकोपनिषद में हमें उपदेश दिया गया है कि इस ॐ को अपना आत्मस्वरूप जानकर ध्यान करो। कठोपनिषद् में भी इस ॐ चिह्न का गुणगान करते हुए कहा गया है : "वह अंतिम लक्ष्य जिसका समस्त वेद उद्घोष करते हैं, समस्त तप जिसकी चर्चा करते हैं, तथा जिसकी प्राप्ति की इच्छा पाकर वे (आकांक्षी) ब्रह्मचर्य का साधन करते हैं, वह ॐ ही है.... ... यह आधार (ॐ) सर्वोत्तम तथा परम है," इत्यादि। श्रीमद्भगवद्गीता में भी उद्घोषित है कि जो व्यक्ति इस एकाक्षर ॐ का उच्चारण करते हुए शरीर त्याग करता है, वह परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार से अन्य श्रुति, स्मृति तथा पुराणों में भी ॐ की महिमा का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है।

हमारे समस्त धार्मिक कार्य, परोपकार, तप तथा अन्य शुभकार्य ॐ के उच्चारण के साथ ही आरंभ होते हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि यह अक्षर ॐ तथा शब्द 'अथ' स्वयं में ही शुभ है, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा के कंठ से इनका उच्चारण हुआ था। इस प्रकार से ॐ की महिमा तथा महत्व की जितनी भी चर्चा की जाये, कम ही है। इस लेख का मुख्य उद्देश्य यह है कि मूल अक्षर 'ओं' को इसका स्वरूप 'ॐ' कैसे प्राप्त हुआ, क्योंकि इस रूप में यह अक्षर देवनागरी लिपि में स्वर अथवा व्यंजन, किसी भी रूप में दिखाई नहीं देता।

---

१ अक्तूबर, १९८५ के 'भवन्स जर्नल' में प्रकाशित

हम सभी जानते हैं कि देवनागरी लिपि में इसे साधारण रूप से 'ओ' पर अनुस्वार देकर लिखा जाता है (चित्र-१)। इस प्रकार से लिखने में हमें अपनी कलम को ५ या ६ बार उठाना पड़ता है। इससे लेखन की गति में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि मंत्र इत्यादि लिखने में इसका बार-बार प्रयोग करना पड़ता है। इस कारण इसके लिखने की कोई सरल विधि अपनाना आवश्यक था। हमारे पूर्वजों ने यह रूपान्तरण किस प्रकार से किया इसकी खोज करना रोचक होगा।

चित्र - १ चित्र - २ चित्र - ३ चित्र - ४ चित्र - ५

विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होगा चित्र १ में इसे जिस रूप में लिखा गया है उसमें विभिन्न अंग हैं जिन्हें एक के बाद एक लिखा जाता है (चित्र २)। इन छः अंगों को एकत्र कर लिखने से 'ओं' अक्षर बनता है। अब रूपान्तरण के प्रथम चरण में, आरंभ के चार अंग एक साथ मिलाकर रख दिये गये (चित्र ३)। इस अपरिष्कृत रूप को फिर एक सुंदर रूप प्रदान किया गया जिससे कि लिखने में श्रम कम हो (चित्र ४)। अब ऊपर की सीधी रेखा सहित पूर्ण 'आ' 'ॐ' में सम्मिलित हो गया। अब केवल दो अंग, ॱ -तथा (.) शेष रह गये। मूलाक्षर के रूपान्तरण के साथ- साथ इन दो शेष अंगों पर भी ध्यान देकर उनका रूपान्तरण करना आवश्यक था। इस दृष्टि से ॱ को ‿ रूप में लिखा गया तथा बिंदु (.) को उसके ऊपर रख दिया गया। इसी प्रकार से दो खड़ी और एक सीधी रेखा को मिलाकर बनाये गये '-o' का आकार भी कुछ छोटा बनाया गया और 'ओं' को उसका प्रचलित स्वरूप प्राप्त हो गया (चित्र ५)। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया के अध्ययन से यह समझा जा सकता है कि परंपरावादी लोग उसे 'ॐ' की अपेक्षा 'ॐ' इस प्रकार से लिखने

पर बल क्यों देते हैं, भले ही उन्हें इसके पीछे का कारण ज्ञात न हो। फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'ओं' का चित्र ५ में दर्शाया गया यह रूप मूल अक्षर के सभी अंगों को- दो खड़ी रेखाएं जिन्हें लिखने में सरल बनाने हेतु जोड़ दिया गया, मात्रा तथा अनुस्वार को सही रूप में प्रस्तुत करता है और पुराने लोगों द्वारा इसे इस रूप में लिखने पर बल देने के पीछे भी यही कारण प्रतीत होता है। इस प्रकार से विश्लेषण द्वारा इसके पीछे के रहस्य को जान लेने के पश्चात्, आइये, हम लोग भी इस अक्षर को परम्परानुसार बताये गये इसके अधिक शुद्ध रूप में ही लिखना आरंभ करें।

ॐ ॐ ॐ

वशिष्ठ गुहा के संत स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

वशिष्ठ गुहा! लोक मान्यता के अनुसार मुनि वशिष्ठ के जीवन के साथ जुड़ी यह गुहा ऋषिकेश से बदरीनाथ मार्ग पर १४ मील (लगभग २२ किमी.) की दूरी पर स्थित है। मुख्य सड़क से करीब १५० फीट एक ऊबड़-खाबड़ पगडंडी और अंत में बनी सीढ़ियों से नीचे उतर कर इस पुरातन स्थान तक पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक स्पंदनों से ओतप्रोत एक स्थान-उनके लिए जिनके अंत:करण इस वातावरण की स्वर-संगति के अनुकूल हों। सीढ़ियां उतरकर आश्रम की बगिया में लगभग १०० गज भीतर जाने पर आप इस प्रसिद्ध वशिष्ठ गुहा के सम्मुख होंगे। लगभग ५० फीट गहराई की यह एक नैसर्गिक गुहा है-दो खंडों में बंटी हुई जिनमें से बाहर का एक खंड २० फीट x १२ फीट का है। गुहा के आसपास एक मंदिर और कुछ छोटे मकान बने हुए हैं। गुहा से कुछ ही दूरी पर स्वर्ग से धरा पर आयी गंगाजी बहती हैं। गुहा गंगाजी के दक्षिण किनारे पर स्थित है और उसका मुख गंगाजी की दिशा में है। कल-कल बहती गंगाजी के किनारे पर ऊंची-ऊंची पहाड़ियों की तलहटी में वृक्षों से घिरी हुई इस गुहा का नैसर्गिक सुरम्य वातावरण सहज ही अंत:करण को आध्यात्मिक विचारों से भर देता है।

इस लेख में जिनकी मुख्य रूप से चर्चा है उन स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी ने आज से ५० वर्ष से भी पूर्व इसी वशिष्ठ गुहा को अपनी तपस्या का स्थान बनाया। उन दिनों में इस स्थान तक पहुंचना इतना सरल नहीं था। केरल प्रांत के तिरुवल्ला नामक स्थान में एक धार्मिक दंपति श्री नारायण नायर तथा श्रीमती पार्वती अम्मा के घर उनके विवाह के कई वर्ष पश्चात्, २३ नवम्बर, १८७८ को जन्म लिये इस महान संत का बचपन का नाम नीलकंठन् था।

अक्तूबर, १८८६ के 'माउंटेन पाथ' में प्रकाशित।

किशोर अवस्था में ही यह बालक अतिशय धार्मिक प्रवृत्ति का तथा शिक्षा में प्रतिभाशाली था। परंतु दसवीं कक्षा में पढ़ाई के दिनों में ही नीलकठन् को गठिया की गंभीर बीमारी के कारण शिक्षण बीच में ही रोक देना पड़ा। रोग के बारंबार होने वाले आक्रमण ने उनके धार्मिक उत्साह में वृद्धि ही की। बीमारी की लंबी अवधि में उन्होंने संस्कृत में निपुणता प्राप्त कर ली तथा गीता तथा अन्य शास्त्रों का गहराई से अध्ययन किया। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति उन्हें रामकृष्ण मिशन के स्वामी निर्मलानन्द जी के प्रभाव में ले आयी। रामकृष्ण मिशन उन दिनों धीरे-धीरे केरल में अपना विस्तार कर रहा था और नीलकंठन् ने स्वामी जी के साथ बारह वर्ष से अधिक काल तक इस दिशा में कार्य किया। सन् १८१६ में रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष, स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने जब वे केरल की यात्रा पर थे, नीलकंठन् को मंत्र दीक्षा प्रदान की और मिशन के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी (महापुरुष महाराज) ने १८२३ की शरद-पूर्णिमा के दिन बेलूड में उन्हें संन्यास दीक्षा प्रदान कर उनका सन्यासाश्रम का नया नाम रखा-स्वामी पुरुषोत्तमानन्द।

संन्यास ग्रहण करने के कुछ दिन पश्चात् स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी वाराणसी, हरिद्वार तथा अन्य तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा पर निकल पड़े। कुछ वर्षों तक हिमालय के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण के पश्चात वर्ष १८२८ में वे अपना जीवन ध्यान तथा प्रार्थना में व्यतीत करने के विचार से घने वनों के बीच वशिष्ठ गुहा में आकर रहने लगे। अपने दृढ़ मनोबल, साहस तथा अत्यधिक अनासक्ति के गुणों के कारण ही उन्होंने वशिष्ठ गुहा को अपनी तपोभूमि के रूप में चुना। उन दिनों में ऋषिकेश से गुहा तक जाने हेतु पक्की सड़क तो दूर, साधारण पगडंडी भी नहीं थी। गंगाजी के किनारे-किनारे पहाड़ियों को पार करते हुए जाना पड़ता था। परंतु उन्होंने इसी स्थान का चुनाव किया क्योंकि 'वशिष्ठ गुहा' नाम में ही अद्भुत आकर्षण था। उन दिनों उन्हें महान कठिनाईयों का सामना करना पड़ा।

सबसे निकट की बस्ती के रूप में एक छोटा सा गांव ३ मील दूरी पर था और अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए उन्हें पहाड़ियां चढ़ते-उतरते वहां जाना पड़ता था। किशोरावस्था में गठिया के आक्रमण के कारण उनका दाहिना पैर कुछ क्षीण और दुर्बल रह गया था। सारा मार्ग उन्हें लंगड़ाते हुए तय करना पड़ता था जो उनके लिए और भी अधिक कष्टदायक था।

एक बार जब उनकी गुहा में जलती हुई अग्नि बुझ गयी तो उन्हें केवल अग्नि लेने हेतु लंबा मार्ग तय कर गांव तक जाना पड़ा। इस प्रकार की कठिनाईयों के उपरांत भी अपनी साधना हेतु वशिष्ठगुहा छोड़कर किसी अन्य स्थान पर जाने का विचार उनके मन में कभी नहीं आया। विभिन्न प्रकार से उन्हें सहायता प्राप्त हो जाया करती थी। एक अवसर पर जब उनकी गुहा में जलती अग्नि बुझ गयी और प्रात:काल का चार घंटे का मूल्यवान समय केवल गांव तक जाने-आने में गंवाने की उनकी इच्छा नहीं थी, गंगाजी के दूसरे किनारे से एक अजनबी गुहा तक आया और बिना मांगे ही माचिस की एक डिबिया उन्हें देकर लौट गया। उसी दिन शाम को स्वामीजी को ऋषिकेश से एक अन्य महात्मा द्वारा भेजी हुई आधा दर्जन माचिस प्राप्त हो गयी। जब फसल-कटाई के दिन आये और स्वामीजी गांव से अनाज एकत्र करने हेतु वहां जाने की तैयारी में थे, उसी समय उनके एक पुराने परिचित ऋषिकेश के स्वामी आनन्द गिरी वहां पहुंचे। विभिन्न गांवों में घूमते समय वे स्वामीजी के साथ रहे और स्वामीजी को कुछ भी भार उठाने न देकर स्वयं अकेले ही सारा भार उठाते रहे। स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी ने अतिथि के इस प्रकार के कार्य को अनुचित जानकर प्रथम इसका विरोध किया। परन्तु इस बात पर समझौता हो जाने पर कि स्वामी आनन्द गिरी वर्षाकाल (चातुर्मास) के चार महीने उन्हीं के साथ वशिष्ठ गुहा में रहकर एकत्रित सामग्री का उपयोग करेंगे, उन्होंने उन्हें इस सेवा की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार की घटनाओं ने स्वामीजी का ईश्वर पर विश्वास और दृढ़ कर दिया। उनकी लगन,

तीव्र तपस्या तथा ईश्वर के प्रति संपूर्ण समर्पण के परिणामस्वरूप वे जीवन के अन्तिम लक्ष्य - 'आत्मानुभूति' को प्राप्त हो गये। वह सच्चे वेदान्ती थे, ज्ञान और भक्ति का सुंदर समन्वय रखकर अपने शिष्यों को ध्यान करने में विशेष प्रोत्साहित करते थे। सुस्वर में गाये जा रहे कीर्तन या भजन को सुनते सुनते वह आसपास की सुधबुध खोकर भाव-समाधि में डूब जाते थे। श्रीमद्भागवत् के कुछ अंश पढ़ते-पढ़ते उनकी आंखों से आंसू बहने लगते। आध्यात्म के साधकों के लिए उनका उपदेश था, "दूसरों के लिए अपने अन्त:करण में महसूस करो, अनुभव करो", 'सच्चाई के साथ सत्यनिष्ठ बनो', और 'ईश्वर के प्रति पूर्णत: समर्पित हो जाओ।' ब्रह्मचर्य पर भी उनका विशेष जोर था और वे कहा करते थे 'यदि तुम में ब्रह्मचर्य है तो तुममें सब कुछ है, यदि नहीं तो कुछ भी नहीं।'

"अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्त निर्मलम्
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्"

"हम उस शुद्धतम ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं जो सद्गुण, यश, आयुष्यं का कारण तथा इस लोक तथा परलोक की सभी व्याधियों के लिए रामबाण औषधि है।"

स्वामीजी प्रसिद्धि से दूर रहने वाले व्यक्ति थे। इसके उपरान्त भी समाज के विभिन्न वर्गों के लोग शांति तथा मार्गदर्शन के लिए उनके आस पास एकत्र होते गये। स्वामीजी के दर्शनमात्र से ही उन्हें शांति की प्राप्ति हो जाया करती थी। कभी-कभी लोग मन की शंकाओं की लंबी सूची साथ लेकर उनके पास जाते परंतु स्वामीजी के सानिध्य में शांत भाव से बैठते ही बिना मुख से एक शब्द का भी उच्चारण किये ही उन सारी शंकाओं के उत्तर उनके मन को स्वयं ही मिलने लगते अथवा स्वामीजी उन्हीं विषयों की चर्चा छेड़ते हुए उनकी मन की शंकाओं के उत्तर स्वयं या अन्य किसी के साथ बातचीत के द्वारा प्रस्तुत कर देते थे। उनकी बाल सुलभ हंसी कोई भूल नहीं सकता था। उनके प्रेम, करुणा, सूक्ष्म विनोद बुद्धि, सीधे सरल शब्दों में दिया गया अध्यात्मिक विषयों पर मार्गदर्शन आदि के

कारण उनके निकट जाने वाला कोई अपरिचित अथवा संकोची व्यक्ति भी कुछ ही समय में अनुभव करने लगता जैसे वह अपने परिवार के ही किसी व्यक्ति की उपस्थिति में हो।

धीरे-धीरे वहाँ एक आश्रम का स्वरूप बनता गया तथा कुछ सन्यासी शिष्य स्वामीजी के साथ रहने लगे। वे वहां एक संयुक्त परिवार अथवा गुरुकुल के रूप में उनके बच्चों की तरह उनके साथ रहते और स्वामीजी की सेवा करते। स्वामीजी अपने सन्यासी अथवा गृहस्थ शिष्य-दोनों के लिए माता, पिता, गुरु आदि सभी कुछ थे।

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने स्थान-स्थान पर प्रवचन करने हेतु यात्राएं नहीं की तथा शायद ही वह किसी बड़ी सभा में भाषण दिये हों। परन्तु वह जहां कहीं भी जाते, सत्संग के आयोजन द्वारा साधकों के मन की शंकाओं का समाधान कर उनका मार्ग दर्शन करते।

तीन दशकों से अधिक काल तक वशिष्ठ गुहा में निवास करने के पश्चात् ८२ वर्ष की आयु में स्वामीजी कुछ ही दिन की बीमारी के बाद महासमाधि को प्राप्त हुए। इस घटना के दो दिन पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों के साथ विस्तारपूर्वक बातचीत की तथा सोमवार १३ फरवरी १९६१ की महाशिवरात्रि की रात महानिर्वाण को प्राप्त हुए। उनके द्वारा पावन किये इस स्थान पर एक मंदिर का निर्माण कर वहां इस महान संत की प्रतिमा स्थापित की गयी है। स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी की गणना हरिद्वार-ऋषिकेश के क्षेत्र में हिमालय की महान आध्यात्मिक ''त्रिमूर्ति'' में होती थी। ये तीनों ही दक्षिण भारतीय थे। अन्य दो थे ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्दजी महाराज तथा उत्तरकाशी के स्वामी तपोवनम् जी महाराज । डॉ. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने १९५३ में वशिष्ठ गुहा के इस संत के साथ हुई अपनी भेंट के पश्चात् लिखा था:

''अध्यात्म की राह पर इस प्रकार के मनमौजी योद्धा प्राय: सभी देशों में मिलते हैं, परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा भारत में अधिक। आधुनिक जगत चाहे जो कहे, इस प्रकार के लोग सभी काल में देखने को मिलते

रहेंगे जो केवल अपने दैनिक जीवन से संतुष्ट न होकर आध्यात्म के एवरेस्ट शिखर पर प्रसन्नता पूर्वक, दृढ़ निश्चय से चढ़ते जाने का साहस रखते हों। हम लोग जब सुखप्राप्ति की मृगतृष्णा की खोज में लगे रहते हैं, वे धैर्य और निष्ठापूर्वक पवित्र अमृत की खोज करते हैं, और ये ही हैं वे लोग जो इस जग के साधारण गुलाब को उस आध्यात्मिक गुलाब में परिवर्तित कर देते हैं, जिसके गीत दाँते ने गाये हैं।''*

---

i) Spiritual Talks, (ii) Peep into the Gita, (iii) Guide to Spiritual Aspirants, तथा (iv) उपदेशामृत पुस्तकों में इस संत के उदात्त उपदेश संग्रहित हैं। ये पुस्तकें, 'वशिष्ठ गुहा आश्रम, पो.ओ. गूलर दोगी, पिन कोड २४९३०३ (जिला - टिहरी-गढ़वाल) उ.प्र. से प्राप्त की जा सकती हैं।

*City of Paradise & Other Kulpati's Letters (1955) पृष्ठ ६९, भारतीय विद्याभवन, मुंबई।

एक उदास मित्र के प्रति

रुदन क्यों करते हो मित्र!
क्या अन्तिम लक्ष्य अभी दृष्टिपथ में नहीं?
सूर्य उत्तरायण में अग्रसर होने को ही है
बढ़ चलो राह पर धैर्यपूर्वक।

किस बात से व्यथित हो मित्र!
"आत्मा की गहन रात्रि?"
तब मत खोजो प्रकाश-
तमस भरे कोनों में,
आओ!
खुले विस्तीर्ण वन-पथ पर।

संदेह से परे
अस्तित्व आत्मा का ही तो है,
तब बाहर-भीतर का द्वंद्व कैसा?
यह सत्य* तीन नहीं
प्रकाशित है एक ही रूप में,
तुम्हारे ही भीतर
तुम्हारा स्वरूप होकर।

---

* ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान

आओ सहज रूप में

पड़े हो सोने का बहाना बनाकर
हो जैसे गहन मूर्च्छा में
सिद्ध करना चाहते हो
स्वयं को कुंभकर्ण?

उतार फेंको यह मुखौटा
आओ बाहर
जानते हैं हम सभी
तुम हो कौन वास्तव में।

ज्ञानी भी ओढ़ लेता है चोगा
एक मूढ़ का,
सुना है हमने उनसे
जो जानते हैं
हम देख रहे है इसका ही उदाहरण
तुम्हारे इस रूप में।

आओ बन्धु! अपने वास्तविक, सहज रूप में
बन जाओ पथ-प्रदर्शक
उन साधकों के लिए
जो सम्मोहित हैं पारिवारिक बंधनों में
जिससे कि कर सकें वे जीवन में अनुकरण तुम्हारा।

(१०-७-९० को रचित)

स्वामी पुरुषोत्तमानंदजी महराज

मेरे गुरुदेव

(स्वामी पुरुषोत्तमानंदजी महराज के प्रति)

कौन हैं वे जिन्होंने पोषण किया मेरा दिव्य विचारों से
अनुगृहीत किया मुझे जब मैंने शरण चाही
और रखे है मुझे अपने कृपापूर्ण आश्रय में
- मेरे गुरुदेव !
कौन हैं वे, जिन्होंने अपने कृपापूर्ण दृष्टिपात से
भर दिया मेरे हृदय को, भक्तिभाव से
और जगा दिया चेताकर मेरी सुषुप्त अनासक्ति को,
- मेरे गुरुदेव !
और कौन हैं वे, जिन्होंने चुंबक-पत्थर के समान
आकृष्ट किया अपनी ओर,
मुझ संभ्रमित बीहड़ वन में भटके हुए को
और ले लिया अपने आश्रय में सदैव के लिए
- मेरे गुरुदेव
निवास करुं मैं आपमें, अपनी आत्मा में
सदैव, युग युग में
प्रदान करो मुझे प्रज्ञा, बल और साहस
और दो आशीष
कि मैं आपका सुयोग्य बालक बन सकूं
- हे मेरे श्रद्धेय सद्गुरु !

PURUSHOTTAMA GURU

(An acrostic)

Purity of thoughts
Unselfish deeds,
Remembrance of God
Under all circumstances;

Sincere devotion
Higher aspiration,
Open-hearted dealings–
The surest means to Peace;

Time is fleeting fast
And life is ebbing too,
Moments though they seem
Ages, alas are lost;

God, coming as Guru
Uplifts the dozing chela,
Reminding him of his nature Divine
Ushers a spiritual life in him.

पुरुषोत्तम गुरु

['परिवर्णी काव्य' अथवा Acrostic, काव्य का वह प्रकार है जिसमें किसी शब्द विशेष के प्रत्येक अक्षर से आरंभ कर कविता की एक-एक पंक्ति बनती है। स्वामी निर्वेदानन्दजी ने अपनी महासमाधि के कुछ ही दिन पूर्व अपने गुरुदेव के 'PURUSHOTTAMA GURU' नाम के प्रत्येक अक्षर से एक एक पंक्ति लिखकर अंग्रेजी में एक कविता लिखी थी। 'परिवर्णी काव्य' के रूप में ही उसका हिंदी अनुवाद करना संभव प्रतीत नहीं होता। इस कारण मूल अंग्रेजी कविता के साथ ही साथ उसका हिंदी भावार्थ प्रस्तुत किया गया है।]

विचारों की पवित्रता
निष्काम कर्म
ईश्वर का स्मरण
सभी परिस्थितियों में।

सच्चा भक्तिभाव
उन्नति की अभिलाषा
निष्कपट व्यवहार
निश्चित राह परम शान्ति की।

पंख बांधे उड़ रहा है समय
ढल रहा है और जीवन भी
लग रहा जो आज युग-सा पल
खेद है! हम खो रहे हैं व्यर्थ।

परमेश्वर ही आकर सद्गुरु रूप में
उत्थान करते हैं अर्द्धसुप्त शिष्य का
स्मरण दिलाकर उसे उसका ईश्वरीय स्वरूप
नव संचार कर देते हैं उसमें दिव्य जीवन का।

ॐ

पत्रावली

३/१/१९७८

मैं किस प्रकार का जीवन जीना चाहता हूँ इस विषय में अपने मन में एक निश्चित निर्णय लेना आवश्यक है। कोई भले ही घर-परिवार के साथ रहे परंतु आध्यात्मिक जीवन के संबंध में एक स्पष्ट कल्पना उसके मन में होनी चाहिए। इसी के साथ आवश्यक है एक अच्छा मार्गदर्शक-महापुरुषसंश्रय:। सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना साधना करना बिना पतवार के नाव खेने के प्रयत्न के समान ही है।

★ ★ ★ ★

२२/१/१९७८

तुम एक वैज्ञानिक हो और 'अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति' रखते हो। सर्वसाधारण स्वप्न का अर्थ तो तुम लगा सकते हो परंतु यह तो 'परलौकिक' स्वप्न है। भौतिक मन आध्यात्मिक सत्य के गूढ़ रहस्यों का अर्थ किस प्रकार जान सकता है? आध्यात्मिक बुद्धि द्वारा ही इस सत्य की झलक पाना संभव है। हमारी समस्त साधना केवल इसीलिए है कि मन का सारा मैल दूर होकर उसमें आध्यात्मिक सत्य प्रतिबिंबित हो सके। .... ईश्वर ही राह दिखाएगा। वह हमारा 'अर्न्तयामी' है। हमारा मन परमेश्वर के चरण कमलों में रमा रहे।

★ ★ ★ ★

१०/१२/१९७९

प्रसन्नचित्त रहो, आनंद में रहो। परमात्मा सदैव सहायता करेंगे। पूरी लगन से कर्तव्य का पालन करते रहो।

★ ★ ★ ★

१/१२/१९८०

श्रेयांसि बहु विघ्नानि (श्रेष्ठ कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं) यह एक पुरानी कहावत है। ... माता-पिता की सेवा करना अनिवार्य है। उचित भावना के साथ करने से वह आध्यात्मिक साधना में सहायक ही होगी। इसी के साथ श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा यह भी कहा गया है कि यदि माता इसलिए आंसू बहाती है कि उसकी सेवा करने वाला कोई नहीं, तो माता की उपेक्षा कर साधना करने वाले साधक के मार्ग में उनका प्रत्येक आंसू पहाड़ बनकर बाधा उत्पन्न करेगा। इस कारण माता-पिता की सेवा करने मे हमारी प्रतिदिन की साधना में हमें यदि कुछ कमी करनी पड़े तो भी कुछ हानि नहीं है। यह सेवा हमें साधना के भाव से करनी चाहिए। हमें केवल उनसे अपने जीवन का लक्ष्य स्पष्ट रूप से कह देना चाहिए तथा इसके लिए उनका सहयोग तथा आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। परंतु यह संसार ऐसा है कि इस प्रकार के 'साहस' के लिए सहज ही सहमत नहीं होता, परंतु, साथ ही साथ यही संसार उस साधक की पूजा करेगा यदि वह अपने निर्णय पर अटल रहे और आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना तो अलग केवल कुछ दूर तक ही इस मार्ग पर चल सके। इस कारण हमें अपने आदर्शों के प्रति दृढ़ भाव से निष्ठावान रहकर उन्हें बिना छोड़े अपने आसपास की परिस्थिति के अनुरूप स्वयं को ढालना होगा। अपने जीवन में भी पड़ोसियों और अन्य व्यक्तियों के साथ हमें अपने आदर्श सदैव अपने सम्मुख रखते हुए साधारण व्यवहार ही करना होगा। हम अपने चारों ओर एक बाड़ बनाकर सभी अवांछित व्यक्तियों को बाहर तो भगा नहीं सकते। जैसा कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है, ''हमें अपनी साधना रात्रि काल में मच्छरदानी के भीतर बैठकर करनी चाहिए जब कोई हमें देख न रहा हो।'' हमारे चारों ओर की बाड़ वास्तविक न होकर मानसिक होना अधिक उचित है...। प्रार्थना, प्रार्थना और प्रार्थना। सच्चे और खुले हृदय से परमेश्वर से प्रार्थना करो कि वह तुम्हारा सही राह पर मार्गदर्शन करे। अनुनय करो प्रभु से कि वह तुम्हें इस संसारजाल से

मुक्त रखे और उन्हें भी सद्बुद्धि दे जो तुम्हारे मन को विचलित कर तुम्हारी शांति भंग करने का प्रयत्न करते है। मेरे गुरुदेव ने अपनी पुस्तक ' A Guide To Spiritual Aspirants' में कहा है कि, "परमेश्वर हमारी समस्त प्रार्थना सुनता रहता है तथा उन्हें पूर्ण करता है।" उनके वचन स्वयं में ही प्रमाण हैं, अत: हम उन्हें अक्षरश: स्वीकार कर सकते हैं। यदि हम ईमानदारी के साथ अध्यात्म के मार्ग पर चल रहे हैं तो हमें कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। हमारी लगन की परिक्षा लेने हेतु थोड़े बहुत व्यवधान तो बीच बीच में उत्पन्न होते ही रहेंगे। हमें धीरज नहीं खोना चाहिए। प्रतिदिन ध्यान के पश्चात् प्रार्थना करो:-

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

★ ★ ★ ★

६/१२/१९८०

ईश्वर का स्मरण सदा करते रहो। मन की शान्ति के लिए यही एक उपाय है। हमें क्या चाहिए यह हमसे अच्छी तरह वे (ईश्वर) जानते हैं; यथासमय वह (ऐच्छिक) वस्तु प्रदान भी करेंगे। हमारा कर्त्तव्य है भजन करना, भगवान का स्मरण करना। अधीर मत होओ, परिश्रम करते रहो, विश्वास और धैर्य को मत त्यागो। सब ठीक हो जाएगा। परमेश्वर तुम पर कृपा करें- यही मेरी प्रार्थना है। ॐ।

★ ★ ★ ★

१२/८/१९८१

सभी दिशाओं में उन्नति (संसारिक वस्तुओं में) परन्तु यदि हम आत्म-निरीक्षण करें तो क्या हमारे भीतर कोई उन्नति हो रही है अथवा हम जहाँ थे वहीं हैं?
परमेश्वर हम पर कृपा करें!

★ ★ ★ ★

माघ कु. ३, २०३८ वि.सं.
(तदनुसार जनवरी १२,१९८२) (स्वामीजी द्वारा ही हिंदी भाषा में)
प्रिय आत्मन्,

सबसे पहले, "तिल गुड़ ध्या, गोड बोला"।

क्यों मकर संक्रान्ति में तिल-गुड़ लेना? शायद यह प्रथा इसलिए चली आ रही है कि माघ मास में ठंड अधिक होती है और तिल,गुड़ दोनों ही गरमी देने वाले हैं। शास्त्रानुसार और भी कुछ मतलब होगा। आप रा.स्व.सं. वाले जानते होंगे। इतना तो सब लोग जानते हैं कि उत्तरायण प्रारंभ होता है; और इसी को लेकर लोग बहुत प्रसन्न होते हैं। हाँ, सूर्यनारायण उत्तर की ओर चलने लगते हैं, रात कम और दिन अधिक होने लगते हैं, उष्णता भी आने लगता है-यह सब पृथ्वी में-आधिभौतिक। आध्यात्म में उत्तरायण क्या है? यह तो अचानक कल ही विचारधारा में आया। "अबद्धं वा सुबद्धं वा" अपनी विचार को लिख ही देता हूँ- साधकों का अहंकार, अर्थात् अज्ञान, कम होते हुए दिन-प्रकाश-ज्ञान बढ़ना-यही तो रात घटना, दिन बढ़ना कहा जाता है? और उत्तरायण? कुछ दिन पूर्व मैंने जो पुस्तक पढ़ी, "शून्य क्रि.पू. अथवा क्रिस्तु उपनिषत्" (२००० बी.सी. क्रिस्ट उपनिषत्), उसका लेखक का व्याख्या से प्रभावित हुआ मैं, यह कहूँगा कि कुण्डलिनी शक्ति का निद्रा से जागृत होकर ऊपर की ओर चलना ही उत्तरायण है। मनुष्य का शरीर में सिर ही तो उत्तर है और जैसे-२ कुण्डलिनी उत्तर की ओर चलेगी उतना ही प्रकाश, ज्ञान, साधक अनुभव करेगा। यह तो आनन्द की बात है। बाहर, सूर्य प्रकाश से साधारण जन प्रसन्न होते हैं, योगी लोग आध्यात्म प्रकाश से आनन्द अनुभव करते हैं। तो, उत्तरायण में शरीर त्यागना, जैसे भीष्म पितामह ने किया, इसका भी अर्थ यही होगा कि पूर्ण ज्ञानी होकर शरीर त्यागना-"इहैव तैर्जित: सर्गो..."(गीता), "इह चेदेवेदीत्—अथ सत्य-मस्ति...." (केनोपनिषत्) इन वाक्यों का भी अर्थ ऐसा ही है- (ब्रह्म) में-साम्य में-जिनका

मन स्थिर है वे लोग यहीं-इस शरीर में रहते हुए ही -संसार को-पुनर्जन्म को जीत लेते हैं, ''यहां रहते हुए ही इस तत्व को जान लिया तो सत्य है'' अब हमारा कर्त्तव्य, उस शक्ति को ''उत्तरायण'' करना है। प्रस्तुत लेखक पक्का योगी थे, इसलिए उन्होंने क्रिस्तु का उपदेशों को योगमार्ग का अवलम्बन देकर व्याख्या किया है। हमें तो भक्ति, ज्ञान मार्ग द्वारा ही वह स्थान पहुँचना है। ''रात गवायो.....'' की तरह कितनी ही संक्रान्ति बीत गई। इस संक्रान्ति हमें उत्तरायण में प्रवृत्त करावें। ॐ ॐ ॐ

.... मकर संक्रान्ति रा.स्व.सं. वालों के लिए एक महत्वपूर्ण पर्व है, इसलिए मैंने हिन्दी में लिखने की चेष्टा किया। त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुए सार को संग्रहण करिएगा। १.१.८२ को सुबह गुरु महाराज के प्रति विचार-ध्यान चलते-चलते, तुलसीदास जी का एक चौपाई का adaptation इस प्रकार मन में आया

श्री गुरुदेव चरण रति मोरे।
अनुदिन बढ़हिं अनुग्रह तोरे। (''सीताराम'' के स्थान पर ''श्री गुरुदेव'')

सुनने में आया कि ''भक्ति'' के बाद आप ''राज विद्या....'' में हैं। दिन में पुराने पत्थरों पर अनुसंधान, रात में भगवद्वचनों में। बहुत अच्छा। एकाग्रता से उत्तरायण मार्ग पकड़ना सरल है। और क्या लिखूं-कहाँ लिखूं?

★ ★ ★ ★

२३/१०/१९८२

आशा है तुम्हारा पीठ का दर्द अब दूर हो गया होगा। वैसे भी विचार करें तो सुख-दुःख का अनुभव तो होता है भौतिक शरीर को और मन उन्हें अपना समझ लेता है! और हम, वास्तविक 'हम' उस मन को अपना मान बैठते हैं अथवा मन को ही 'हम' मान लेते हैं-सभी कठिनाइयों का कारण यही है।

★ ★ ★ ★

८/३/१९८३

शीतलहर समाप्त हो चुकी है, जाड़ा भी समाप्त होने को है। इसके

उपरांत भी माताजी को (मेरे लिए गरम मफलर बनाने में) इतनी रुचि क्यों? यह सब परमेश्वर की कृपा है, गुरुदेव की कृपा है। यदि इस बात को हम सच्चे हृदय से स्वीकार कर सकें और इसका बोध रख सकें तो हमारा जीवन कितना महान् और आनन्दमय हो जायेगा! परंतु मनुष्य में धैर्य नहीं है और वह व्यर्थ ही इधर-उधर की बातों की चिंता करता रहता है। हमें भगवान् के इस आश्वासन पर दृढ़भाव से अपनी श्रद्धा रखनी होगी- ''योगक्षेमं वहाम्यहम्''। परमेश्वर हमें आशीर्वाद दे कि हम उस पर श्रद्धा रख सकें। ॐ।

★ ★ ★ ★

५/८/१९८३

युवावस्था में व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के विषय में विशेष चिंता नहीं करता-इसके विपरीत, किसी व्याधि अथवा शारीरिक कमजोरी को स्वीकार करना उसे अपनी गरिमा के विरुद्ध प्रतीत होता है। परंतु बाद के दिनों में उसे इस लापरवाही का मूल्य ब्याज सहित चुकाना पड़ता है। मैं आशा करता हूँ कि अब तुम शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से ही अपनी सहज स्थिति को प्राप्त हो चुके होंगे।

★ ★ ★ ★

२६/१०/१९८३

मनुष्य को कष्ट सहन करना ही पड़ता है। ... कठिनाइयों का सामना करना ही होगा। भगवान पर विश्वास रखो, प्रार्थना करो, वे सब कुछ कर सकते हैं, वे ही सब कुछ करते हैं। मैं भी प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हें जीवन में अच्छा रास्ता मिल जाये।

★ ★ ★ ★

७/२/१९८४

एक बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि जब भी कोई बुरे लोगों का संग छोड़ना चाहता है, विभिन्न प्रलोभनों के द्वारा उसकी कड़ी परीक्षा ली जाएगी। अतः हमारा निश्चय दृढ़ होना चाहिए।

★ ★ ★ ★

५/३/१९८२

प्रार्थना चाहे ईश्वर से हो या महाराज जी से, यह भौतिक नश्वर वस्तुओं के लिए नहीं होनी चाहिए। मांगना है तो आत्मसाम्राज्य मांगो जो हमेशा रहेगा, जिसकी प्राप्ति पर हम सदा मंगलमय, कल्याणमय, आनन्दमय सागर में डूबे रहेंगे और पुनः संसार सागर का दर्शन भी नहीं होगा। ''सीताराम चरण रति मोरे....'' चौपाई कितनी सुंदर और गम्भीर है, देखो। यह चौपाई मुझे इतनी प्रिय लगती है कि गुरुजी के प्रति ऐसी ही एक बनानी चाही और वह बन भी गई। ''सीताराम'' के स्थान पर 'श्री गुरुदेव' लगाकर शेष वैसे ही रहने दिया।

एक सुंदर श्लोक - शायद रामचरितमानस में किसी कांड के प्रारंभ में मंगलाचरण में है (सुन्दरकाण्ड)

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवान खिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छं रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

इसे कंठस्थ कर लेना और पूजा के समय प्रार्थना के साथ कहना। अर्थः- हे रघुपते! मेरे हृदय में अन्य स्पृहा (आग्रह) कुछ भी नहीं है, मैं सत्य कहता हूं। आप अखिल जगत के अन्तर्यामी हैं (अतः आप उसे जानते ही हैं) .... हे रघुश्रेष्ठ! मुझे निर्भर भक्ति प्रदान करो और काम आदि दोषों को मेरे मन से दूर कर दो।

रामचरितमानस में देखना, ठीक अर्थ मिल जायेगा।

★ ★ ★ ★

२/४/१९८४

श्रद्धा तथा भक्ति यदि हृदय में हैं तो भगवान स्वयं सहायता करेंगे और महापुरुषों द्वारा भी सहायता मिलती रहेगी। हृदय को शुद्ध रखना, ईश्वरप्राप्ति की इच्छा को सदैव सर्वोच्च रखना। यह सब हम लोगों का

कर्त्तव्य है, शेष सब भगवान करेंगे। सुख में, दुख में, हर समय भगवान का नाम लेना, ध्यान करना अर्थात मन में विचार रखना। चित्त शुद्धि, भक्ति आदि के लिए श्री गुरुमहाराज जी से भी प्रार्थना करना।

★ ★ ★ ★

१३/४/१९८४

उत्साहपूर्वक (साधना में) लगे रहो। भले ही थोड़ी सी अवधि में तुम्हें इसके कुछ ठोस परिणाम दिखाई न दें, इसे छोड़ना नहीं चाहिए। जन्म जन्मों से हमारे मन में एकत्रित संस्कार चुटकी बजाते तो मिट नहीं जायेंगे। धैर्य (patience), पवित्रता (purity) तथा दृढ़ता/ लगन (perseverance) - स्वामी विवेकानंद इन तीन 'P' पर आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त करने हेतु विशेष बल दिया करते थे। इन्हीं के द्वारा चौथे 'P'- Perfection अर्थात पूर्णता की प्राप्ति संभव है। हमारी प्रगति हमारे प्रयत्न एवं ईमानदारी पर निर्भर करेगी। समय की कोई सीमा नहीं है। यह दो दिन में साध्य किया जा सकता है, अथवा दो वर्षों में अथवा दो जन्मों में। यह तो इस पर निर्भर करेगा कि संसारिक वस्तुओं के प्रति हमारी अनासक्ति तथा विरक्ति कितनी है। मंत्रजप अंतःकरण को शुद्ध करता है, उसे एकाग्र बनाता है तथा इससे ध्यान करने में सहायता मिलती है। ईश्वर की कृपा सदैव प्राप्त है परन्तु हम ही अपनी आंखें मूंद लेते हैं और उनकी ओर पीठ कर लेते हैं। इसी कारण हम उनकी कृपा को न तो पहचान पाते हैं न ही उसका अनुभव कर पाते हैं।

★ ★ ★ ★

१९/५/१९८४

जप जितना अधिक करते हैं उतना ही अच्छा है- मन ''सियाराममय सब जग जानी...'' अवस्था में पहुंचना चाहिए। हाथ में काम, मुंह में 'राम'- सदा सर्वदा मन ही मन भगवान का नाम लेते रहना चाहिए तभी उनके चरणों में भक्तिभाव बढ़ेगा।

★ ★ ★ ★

२०/७/१९८४

हम जहां कहीं भी हों, हमें अपने लक्ष्य का सदैव ध्यान रखना है और परमेश्वर का सदैव स्मरण करना है। चाहे तुम अद्वैत में सीधे कूद पड़ो अथवा धीरे धीरे उसमें उतरो, अंतिम सत्य तो अद्वैत में ही निहित है। निश्चित ही, यह बात सत्य है कि पूरी तैयारी बिना कोई इसमें कूद नहीं सकता... न ही उसे कूदना चाहिए- अन्यथा वह अपने हाथ-पैर तोड़ लेगा। कच्चे आम को हाथ से दबा दबा कर पकाया नहीं जा सकता। वह तो सहज रूप से समयानुसार ही पक पायेगा, और तभी वह मधुर और रसपूर्ण होगा।

★ ★ ★ ★

१०/८/१९८४

मानसिक उत्सुकता, चिन्ताएं इत्यादि का शारीरिक स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और यदि मन और शरीर दोनों ही स्वस्थ न हों तो जप, तप तथा अन्य सभी आध्यात्मिक साधना पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। (अपने आसपास के) संघर्ष से तुम स्वयं को विरत तो नहीं रख सकते परंतु अपनी गतिविधियां कुछ नियंत्रित कर शारीरिक तथा मानसिक तनाव को नियंत्रण में रख सकते हो।

ध्यान रहे यदि तुम शरीर की उपेक्षा करते रहे तो किसी प्रकार की आध्यात्मिक साधना करना संभव नहीं होगा।

★ ★ ★ ★

१०/८/१९८४

घबराओ मत। कभी रात बहुत लम्बी होती है लेकिन उसके बाद प्रकाश तो आता ही है। धैर्य रखो, भगवान अन्तर्यामी है, सर्वज्ञ है, जो कुछ होता है वह सब हमारे कर्म के ही अनुसार है। प्रार्थना से कष्ट भी दूर हो जाते हैं।

★ ★ ★ ★

२६/९/१९८४

इसमें कोई शंका नहीं कि धार्मिक/ आध्यात्मिक पुस्तके पढ़ना अच्छी बात है। परंतु अपना अधिकाधिक समय जप करने में लगाओ। जैसा कि तुम जानते हो जितना अधिक तुम जप करोगे, मन शांत करने में उससे उतनी अधिक सहायता मिलेगी। इसका सतत अभ्यास करते रहने पर सदैव मंत्रजाप करना श्वास क्रिया के समान स्वाभाविक हो जाएगा। तुमने काफी अधिक अध्ययन किया है। दुनिया में तुम्हारे चारों ओर जो कुछ भी हो रहा है वह सारा 'तुम' से बाहर है- 'तुम' उससे पूर्णतः अलिप्त हो। अतः, विचलित करने वाले इन बाह्य कारणों से अपने मन को प्रभावित न होने दो।

★ ★ ★ ★

१७/११/१९८४

चिन्ता न करो, दुनिया में कोई भी किसी को हानि नहीं पहुंचा सकता जब तक कि उसके प्रारब्ध में वैसा न हो- (आध्यात्म रामायण में) श्री रामचन्द्र जी कहते हैं: ''कोई किसी को (सुख या दुःख) नहीं देता। यह तो अपने अज्ञान के कारण हम सोचते हैं कि कोई अन्य हमें क्लेश पहुंचा रहा है। व्यर्थ के अहंकार के कारण ही हम सोचते हैं, 'मैं कर्ता हूं', जबकि वास्तव में यह समस्त संसार अपने कर्मों से बंधा है।''

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददादीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

अतः परमेश्वर का स्मरण करो, जप और ध्यान करो। प्रार्थना, प्रार्थना और प्रार्थना। स्वास्थवर्धक आहार लो और मस्तिष्क हेतु लाभदायक कोई टॉनिक भी लो। उत्सुकता और चिन्ताओं में पड़कर अपने मस्तिष्क को बिगड़ने मत दो। .... आशा है कि तुम अब बेहतर होगे-पूर्ण रूप से

स्वस्थ। भूलकर भी मेरी इस सलाह को गलत मत समझना। मैं यह सारा सच्चे दिल से कह रहा हूँ।

इस वर्ष बाढ़ के दिनों में भी गंगाजी (कुटिया से) काफी दूर रहीं। इस कारण कुटि को कोई हानि नहीं पहुंची। बाजरे की फसल अच्छी हुई है। पौधे इतने ऊंचे हो गये हैं कि पहले दिन दोपहर को गंगाजी से लौटते समय मैं भी मार्ग भूल गया और अपनी ही कुटि पहुंचने का मार्ग मुझे अन्य किसी से पूछना पड़ा! ठीक ही तो है, हम लोग अपनी 'वास्तविक कुटिया' की राह भूल गये हैं और वन में भटक रहे हैं। केवल परमेश्वर ही हमारा उद्धार कर सकता है।

★ ★ ★ ★

४/१२/१९८४

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'- शरीर ही धार्मिक साधना (करने) का प्रमुख साधन है। इस कारण उसका ध्यान रखो। वह नौका है-उसे उचित स्थिति में रखना है।

★ ★ ★ ★

७/२/१९८५

'लोका: समस्ता: सुखिनो भवन्तु' यही हम लोगों की प्रार्थना है। परमेश्वर का स्मरण करो। वही हमारा सब कुछ है।

★ ★ ★ ★

२/५/१९८५

"कला एक विज्ञान है", जी हां, आप ठीक कहते हैं- कलाकार ने उत्तर दिया। "और विज्ञान एक कला है।" बिल्कुल ठीक, उसने कहा.... कोई चाहे वैज्ञानिक हो या अध्यात्मवादी या भौतिकवादी या..... वह संसार को उसी रंग में देखता है जिस रंग का चश्मा उसने पहन रखा हो और दूसरों से वही व्यवहार पाता है जिस प्रकार का व्यवहार वह दूसरों के साथ करता है। अपने हृदय से स्फुटित प्रेम का दूसरे व्यक्ति से तत्काल वैसा ही उत्तर प्राप्त होता है, भाषा की बाधा भले ही हमारे

बीच क्यों न हो।

★ ★ ★ ★

१०/७/१९८५

गुरुपूर्णिमा वर्ष में एक ही दिन नहीं अपितु प्रतिदिन मनानी चाहिए- अर्थात प्रतिदिन वही भावना गुरु महाराज जी तथा ईश्वर में बनी रहनी चाहिए जो गुरुपूर्णिमा के दिन विशेष रूप से रहती है।....

यत् करोषि यदश्नासि यत् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

गीता के इस श्लोक (अध्याय ९, श्लोक २७) को समझना। ईश्वरप्राप्ति के लिए भगवान ने स्वयं जितने सरल उपाय बताये हैं उनमें से एक यह भी है।

★ ★ ★ ★

२२/७/१९८५

(कार्यालय में) पदोन्नति क्या एक 'अपरिहार्य बुराई' नहीं है, भले ही तुम्हें उसकी इच्छा हो या न हो? पदोन्नति के साथ अधिक जिम्मेदारियां और सरदर्द तथा बिना उसके अपमान!

★ ★ ★ ★

१२/९/१९८५

परमेश्वर कृपा से तुम्हें शीघ्र ही अपना स्वाभाविक स्वास्थ्य प्राप्त होवे।ॐ

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणत:क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नम:॥

ॐ

★ ★ ★ ★

२०/९/१९८५

यद्यपि अपने अपने पुण्य-पाप का फल स्वयं को ही मिलता है, फिर भी गृहस्थाश्रम में सत्कर्म एक दूसरे को लाभान्वित करता है और घर के वातावरण को ही बदल देता है जिससे बच्चे भी सन्मार्ग पर चलने

लगते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है, "गृह को गृह नहीं कहते, गृहणी को गृह कहते हैं, जिस गृह में गृहणी नहीं है वह घनघोर वन से भी अधिक सुनसान (भयंकर) है।" सभी पुरुषों को धार्मिक विचार होने पर भी पूजा, जाप आदि के लिए कम समय मिलता है। अतः पत्नी का कर्तव्य है कि इन विषयों में अधिक से अधिक समय और मन लगाये जिससे कि परिवार में सुख, शान्ति, सन्तोष आदि बढ़ते रहें। नरजन्म मिलता है ८४ लाख योनियों के बाद, ऐसा कहते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य शरीर में आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करेंगे तो किस योनि में कर सकते हैं? घर-गृहस्थी भी चलानी है, आत्मोन्नति के लिए भी प्रवृत्त होना है।

★ ★ ★ ★

१/१०/१९८५

...तो तुमने एक और पंख अपनी टोपी में लगा लिया (एक और व्याधि जोड़ ली)! तुमने उन कुछ किरायेदारों के (व्याधियों के) नाम तो गिनाये हैं जो तुम्हारे शरीर रूपी घर में डेरा डाले हुए हैं, परन्तु उनकी सोचो जो तुम्हारी भावनाओं पर भी अधिकार किए हुए हैं? मेरा मतलब तुम्हारे भीतर के उस सेवाभाव से है जिसके कारण चाहे तुम किसी मित्र के लिए या अपने संस्थान के लिए अपनी क्षमता से अधिक कार्य करने में कूद पड़ते हो और तुम्हारा जीवन-क्रम बिगड़ जाता है। अब तुम्हें इस प्रकार के कार्य-कलापों को भी नियंत्रण में रखना होगा। मैं यह नहीं कहता कि उन्हें पूर्णरूप से बन्द कर दो क्योंकि किसी का मूल स्वभाव बदला नहीं जा सकता और व्यापक दृष्टि से विचार करें तो दूसरों की सेवा भी तो अपनी ही सेवा है। यह अच्छा है कि तो तुम तीन सप्ताह तक "परीक्षाकाल के रूप में भिक्षा" पर रहे। परंतु वह तो मजबूरी थी। अब स्वेच्छा से स्थायी रूप में भिक्षाभाव की महत्वाकांक्षा रखो-

पंचाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः।
भिक्षाशना दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपिनवन्तः खलुभाग्यवन्तः॥

"वे वास्तव में भाग्यशाली हैं जो (केवल) एक कौपिन धारण कर,

शरीर निर्वाह के लिए भिक्षा पर निर्भर रह कर पंचाक्षर मंत्र जाप करते हुए तथा हृदय में पशुपति महादेव शिव का ध्यान करते रहते हुए चारों दिशाओं में मुक्त भ्रमण करते रहते हैं।"

★ ★ ★ ★

१४/१०/१९८५

क्या तुम ऐसा नहीं सोचते हो कि भय की अपेक्षा भय का भय अधिक भयंकर होता है? ..."क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप। सुखे दुःखे समेकृत्वा। लाभालाभौ जया जयौ। योगस्थ कुरुकर्माणि," व इस प्रकार के अनेक चरित्र निर्माण करने वाले उपदेश हैं। मनुष्य को चुनौतियों का मुकाबला करना ही पड़ता है और जीवन के उतार-चढ़ाव का अनुभव करना होता है। तभी जाकर व्यक्ति परिपक्व होता है, पक्का बनता है। बिना किसी चुनौती अथवा समस्या के आरामदायक जिंदगी तो व्यक्ति को कमजोर और प्रतिकार क्षमता से रहित बना देगी। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरकर ही व्यक्ति केवल संसारिक ही नहीं अपितु धार्मिक/आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अनुभवी बनता है, यह मेरा मत है।

★ ★ ★ ★

१४/१०/१९८५

कैसी विचित्र बात लिखते हो तुम। तुम्हारे माता-पिता वृद्ध हैं और तुम्हारा घर पुराने ढांचे का बना हुआ है। अरे भाई, प्रेम, स्नेह आदर इत्यादि पुराने अंतःकरणों में ही प्राप्त होते हैं। आजकल के नये फैशन के मकान तो जैसे "बदरिकाकाराः बहिरेव मनोहराः" अर्थात-कडा तथा बड़ा सा बीज भीतर और केवल बाहर से देखने में सुंदर - जैसे बेर के समान ही होते हैं। यदि तुम्हारे हृदय में स्थान हो तो .... वाह!

★ ★ ★ ★

३१/१०/१९८५

इस पृथ्वी में जन्म लेने वाले एक दूसरे के साथ कुछ ही दिनों के लिए सम्पर्क रखते हैं तथा अपने अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगकर

कालावधि आने पर चले जाते हैं। इसमें छोटे-बड़े आदि का विचार नहीं है। यही माया का खेल है।

★ ★ ★ ★

२६/१/१९८६

हर बात को लेकर भावुक न बनो। आपस में मित्रता अथवा अन्य प्रकार से घनिष्ठ संबंधों से जुड़े सभी लोग एक दूसरे के प्रति संवेदनपूर्ण होते हैं तथा सहानुभूति रखते हैं। मैं तुम्हारे माता-पिता के प्रति भावनाओं को समझ सकता हूँ। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह माता-पिता की उनकी वृद्धावस्था में सेवा करे। (तुम्हें पता है, मुझ स्वयं को तुम्हारे पिता जी से विदा लेते समय उनके अंधत्व और असहाय अवस्था के विचार से अपनी भावनाओं को बड़ी कठिनाई से नियंत्रण में रखना पड़ा था) और उन्हें आराम पहुंचाना, उनका इलाज करवाना, उनकी सेवा करना इससे अधिक तुम कर भी क्या सकते हो? कोई भी व्यक्ति दूसरे के कष्टों को अपने ऊपर ले नहीं सकता और उनके साथ रहकर उनकी सतत सेवा करने के लिए तुम अपनी नौकरी तो छोड़ नहीं सकते। वैसे भी, उनकी देखभाल करने के लिए अन्य लोग वहाँ है, वे घर पर किसी की सहायता के बिना अकेले तो नहीं है। किसी 'शॉक एब्ज़ोर्बर' का न होना तुम्हें आवश्यकता से अधिक चिन्तित कर देता है अथवा तुम्हारे भावुक स्वभाव के कारण ऐसा होता है, मैं कह नहीं सकता। परंतु हमें अपने मन को शिक्षित करना पड़ता है। विशेषकर उसको जो अविवाहित रहकर एक श्रेष्ठ जीवन जीने की इच्छा रखता हो। धार्मिक, वेदान्तिक पुस्तकों के अध्ययन से हममें व्यक्ति और घटनाओं को सही परिप्रेक्ष में समझकर उनके साथ अपना उचित संबंध जोड़ने की क्षमता आनी चाहिए। व्यक्ति को अपने माता-पिता के प्रति निष्ठावान, कर्तव्यपूर्ण, प्रेमपूर्ण इत्यादि होना ही चाहिए परन्तु किसी से भी बहुत अधिक मोह रखना उचित नहीं-भले ही वे माता-पिता ही क्यों न हो। वैसे भी हमारा मोह आखिरकार क्या है? अधिकतर तो वह भौतिक शरीर से है और हम यह भी जानते हैं कि यह शरीर वृद्धि, वृद्धावस्था और विनाश से ग्रस्त है। इस कारण प्रेम,

स्नेह और अन्य गुणों के साथ-साथ व्यक्ति को स्वयं में कुछ अनासक्ति का भी विकास करना चाहिए। अपने मन को इस प्रकार की चिन्ताओं से दूर रखने के लिए दफ्तर के कार्य/शोध कार्य आदि में व्यस्त रखना इसका समाधान नहीं है। यह तो एक प्रकार का नशा ही हुआ। परिस्थिति के यथावत् मूल्यांकन से ही इस समस्या का समाधान पाया जा सकता है। विवेक-विचार आवश्यक है। उपनिषद् हमें सिखाते हैं, "कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति जैसे पत्नी, पति, पुत्र आदि के शरीर से प्रेम नहीं करता अपितु आत्म-तत्व के कारण प्रेम करता है।" परन्तु हम इस यथार्थ को नहीं समझते। एक बार यदि हमें एकात्मभाव-सब देहों में एक ही आत्मा विराजमान है-इस सत्य की अनुभूति हो जाये, तो माता, पिता, पत्नी, पुत्र इत्यादि झूठी धारणाओं का अंत हो जायेगा। फिर आत्मा का आत्मा से प्रेम-की स्थिति हो जायेगी। हमें इस एकात्मभाव को प्राप्त करना है। तुमने 'ज्ञानेश्वरी' पर कार्य किया है, उसे २-३ बार लिखकर उसकी प्रतिलिपियां बनायी हैं। अब तक तुम उसके उदात्त उपदेशों से सुपरिचित हो चुके होगे। उन उपदेशों के चिन्तन पर अधिक समय लगाओ उनका विश्लेषण करो और उन्हें अपनाने तथा आत्मसात करने का प्रयास करो। परमेश्वर से प्रार्थना करो। भाव के साथ अधिकाधिक जप करो।

★ ★ ★ ★

२२/२/१९८६

हमारा मन चाहे स्थिर हो अथवा अस्थिर, हमें अपने निश्चयानुसार पूर्णरूप में जप करते रहना चाहिए। हममें श्रद्धा होनी चाहिए। धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से हम अपने ध्येय को प्राप्त कर ही लेंगे अर्थात् परमेश्वर की अनुभूति कर परम शांति को प्राप्त करेंगे।

★ ★ ★ ★

१४/३/१९८६

भूत, वर्तमान अथवा भविष्य के प्रति हमारी उत्सुकता अथवा चिन्ता हमारे लिए किसी भी प्रकार से सहायक सिद्ध नहीं होती अपितु वह हमारा एक प्रकार से भक्षण ही करती है। इस अवसर पर मुझे एक श्लोक स्मरण

हो आता है:

चिंतायेश्च चितायेश्च बिन्दुमात्रं विशेषत:।
चिता दहति निर्जीव चिंता दहति जीवितम्॥

(चिंता और चिता में केवल बिन्दुमात्र-अनुस्वार का अंतर है। दोनों ही जलाती हैं। चिता निर्जीव शरीर को जलाती है, चिंता जीवित व्यक्ति को जलाती रहती है।)

इस कारण हमें चिन्ताओं को छोड़ देना है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इस विषय की विस्तार से चर्चा है। श्लोक ११ से लेकर आगे के भगवान के उपदेश अतिशय स्पष्ट और शिक्षाप्रद हैं। कृपया उन उपदेशों का चिंतन कर उन्हें आत्मसात कीजिए और बीती बातों को छोड़ दीजिए। "A Peep into the Gita" पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर एक श्लोक है:

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणत: क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नम: ॥

यह केवल प्रार्थना ही नहीं एक अतिशय प्रभावशाली मंत्र भी है। अत: यदि इच्छा हो तो आप (दोनों) इसे हृदय से कण्ठस्थ कर सभी समय मन ही मन दोहराया करें। प्रात: तथा संध्या में घर पर इसे उच्च स्वर में गाया भी जा सकता है।

परमेश्वर आप दोनों को अपने चरण कमलों के प्रति शुद्ध भक्ति प्रदान करें। ॐ।

★ ★ ★ ★

३/४/१९८६

.... "कृष्णाय वासुदेवाय...." यह श्लोक दिन अथवा रात किसी भी समय में दुहराया जा सकता है। आरती इत्यादि के समय इसका सस्वर गान करने से भी लाभ होगा परंतु अन्य समय इसका मन ही मन जाप किया जा सकता है। इस विषय में जप की संख्या या समय के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है। भाव के साथ जितना ही अधिक हम इसका जाप करेंगे, उतने ही शीघ्र हमारा मन ईश्वर के विचार से परिपूर्ण होता जाएगा। .... आपने ध्यान दिया होगा, इस श्लोक में अनेक विशेषणों

में एक है, "प्रणत क्लेशनाशाय" ... वह जो उसके सम्मुख प्रणिपात (दंडवत) करने वालों के क्लेश दूर करता है-अर्थात उनके क्लेश दूर करता है जो उसकी शरण में जाते हैं। अपनी-अपनी भावना (अथवा इच्छा) के अनुसार इसका अर्थ होगा- इस संसारिक जीवन के क्लेश से अथवा इस संसार से-जो सबसे बड़ा क्लेश है, मुक्त करता है। हमारी प्रार्थना इस संसारक्लेश से ही मुक्ति होनी चाहिए। यह जानकर हर्ष हुआ कि बहनजी की सलाह के अनुसार आप अपने ईष्टदेव का नियमित जाप कर रहे हैं। जहां तक आध्यात्म के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की बात है, वेदान्त पर लिखी गयी कुछ पुस्तकें जैसे आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति, विवेकचूडामणि इत्यादि सहायक होंगी। ये सभी शंकराचार्यजी की रचनाएं हैं। ... बुद्धिजीवी इन्हें समझ सकते हैं और ईश्वर अथवा आत्मा पर उनका विश्वास दृढ़ रखने में ये सहायक सिद्ध होंगी। अधिकतर लोगों का किसी विशिष्ट 'इष्ट देवता' के प्रति विशेष आकर्षण होने के कारण भक्ति और ज्ञान का मिश्रण उनके लिए उपयुक्त होगा। वर्तमान युग में विशेष रूप से इस विचारधारा के महापुरुष हम देख सकते हैं जैसे श्री रामकृष्ण परमहंस। हममें से अधिकतर को किसी न किसी आलम्बन (आधार) की आवश्यकता होती है और वही हमारा 'इष्ट' है, जिसे हम सद्गुरु द्वारा प्रदान किये मंत्र के द्वारा प्रसन्न करते हैं। अधिक तार्किक वृत्ति वालों के लिए अन्य मार्ग हैं। श्री रमण महर्षि का 'विचार मार्ग' इनमें से एक है। 'Talks with Ramana Maharshi' पुस्तक के द्वारा उनके इस मार्ग के विषय में जानकारी मिल सकेगी। परंतु वे भक्ति के विरुद्ध नहीं हैं। अरुणांचल के रूप में प्रत्यक्ष भगवान की वंदना में स्वयं उन्होंने अनेक रचनाएं की हैं।

वेदान्त के विषय में मैंने जिन पुस्तकों का उल्लेख किया है उन्हें आप कृपया पढ़ें। सत् क्या है, असत् क्या है; आत्मा क्या है, अनात्मा क्या है; शाश्वत क्या है, नाशवान् क्या है इत्यादि के विषयं में वे सब एक ही बात विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित करती हैं। विवेक-विचार के द्वारा समस्त भौतिक समृद्धि अथवा सांसारिक सुखों के विषय में एक प्रकार की अनासक्ति का भाव जागृत होकर चिरन्तन शान्ति और आनन्द की

प्राप्ति हेतु सच्ची अभिलाषा मन में उत्पन्न होती है।

★ ★ ★ ★

२०/७/१९८७

मैं, आप और आपके समान मेरे उन सभी शुभचिंतकों के प्रति सच्चे हृदय से आभारी हूँ जो मेरे स्वास्थ्य के विषय में चिंता करते हैं तथा मेरे शीघ्र स्वास्थ्यलाभ हेतु प्रभु से प्रार्थना करते हैं। ऐसे पत्र मेरे अंत:करण को गहराई तक स्पर्श कर जाते हैं। मैं अपनी इस अवस्था को भी एक प्रकार का 'अनुभव' ही मानता हूँ। मैं इसे किसी प्रकार से कष्ट अथवा दु:खभोग के रूप में नहीं देखता। मेरे प्रारब्ध जो कुछ लिखा हुआ है वह केवल मुझे ही प्राप्त होगा और इस कारण न कोई शिकायत, न किसी प्रकार का विषाद। परमेश्वर मुझे यह 'अनुभव' दे रहा है और मैं उसे धैर्यपूर्वक ग्रहण कर रहा हूं। पुन: उसके विभिन्न सन्तानों के रूप में मेरी मदद करने को तत्पर, उसके हितैषी हस्त देखकर मैं एकान्त में मौन अश्रुपात करता हूँ। मुझे मुख्य पीड़ा शारीरिक नहीं है यद्यपि कभी-कभी वह असह्य हो जाती है परंतु दु:ख इस बात का है कि मेरी पूर्ण रूप से शय्याग्रस्त अवस्था के कारण दूसरों को मेरी सभी प्रकार से सेवा करनी पड़ती है। यह पत्र भी मैं लेटे-लेटे ही लिख रहा हूँ। इसमें शंका नहीं कि ये सभी लोग मेरी सेवा स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कर रहे हैं परन्तु मैं किसी से इस प्रकार की सेवा लेने का अभ्यस्त नहीं हूं और इस कारण यह मेरे लिये अतिशय पीड़ादायक है परन्तु विचार करें तो यह भी परमेश्वर की ही इच्छा है तथा मेरा और दूसरों का प्रारब्ध! यही एक सन्तोष है....।

परमेश्वर अपने चरण कमलों के प्रति आपका अनुराग अधिकाधिक बढ़ाए और संसार बंधनों से आपको मुक्त करे। ॐ।

★ ★ ★ ★

४/१०/१९८७

भगवान से प्रार्थना करो। प्रार्थना में बहुत बल है। नीचे एक श्लोक लिखता हूँ। यह श्लोक भी है, मन्त्र भी है। इसका मन ही मन पाठ करते रहना।

"आपदां अपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥"

★ ★ ★ ★

७/१/१९८८

... वह 'कल्पतरु दिवस' (१ जनवरी) तो १०२ वर्ष पूर्व आया था। वह केवल पहली जनवरी को ही क्यों हो? भक्त के लिए तो प्रत्येक दिवस ही कल्पतरू दिवस होना चाहिए, या यूं कहें, होता है-मेरा तो यही मत है। परन्तु हम अपने जीवन के प्रत्येक दिवस को इस दृष्टि से नहीं देख पाते और इसी कारण परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने का अवसर खो देते हैं। हम लोग रामनवमी, जन्माष्टमी इत्यादि दिवस विशेष महत्वपूर्ण समझकर भगवान के जन्म का उत्सव मनाते हैं। परन्तु अन्य दिनों में भी क्या वह हमारे साथ नहीं हैं? वे अन्तर्यामी और अनुभवातीत हैं-यह श्रुती और महापुरुषों का वचन है। आओ, हम उसे सदा सर्वदा स्मरण करते रहने का अपना स्वभाव ही बना लें। जैसा कि गुरुमहाराज ने कहा है, हमारी लगन सच्ची होनी चाहिए। एक स्थान पर वे कहते हैं, "परमेश्वर केवल एक ही भाषा समझता है, हृदय की भाषा।" यदि हमारी लगन सच्ची है तो वह हमारा मार्गदर्शन करेगा और धीरे-धीरे अपने निकट बुला लेगा। भावनाओं का यह बहाव किसलिए? "मैं अपने देश को छ: उत्तम नागरिक दूंगा", क्या यह तुम्हारे पिताजी की इच्छा नहीं है? उनके इस वाक्य को सदैव अपने सम्मुख रखना, अपने सभी कार्य उसके अनुरूप करना और ऐसा कोई कार्य न करना जो तुम्हारे पिताजी की इस इच्छा के विरुद्ध हो। माता-पिता के आशीर्वाद अतिशय मूल्यवान होते हैं। परमेश्वर से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें बल प्रदान करे, ऐसा जीवन जो स्वयं के लिए और दूसरों के लिए उपयोगी हो और जिसके कारण स्वयं तुम्हारे और तुम्हारे परिवार के नाम पर कोई कलंक न लगे। नाम, कीर्ति, धन, दौलत ये सब हमारा ध्येय नहीं है, अपितु पवित्रता, सच्ची लगन, भक्ति इत्यादि हमारा ध्येय है। जैसा कि महाराज जी ने कहा है, "इस संसार मे रहो परन्तु संसार के होकर न रहो" .... इस आदर्श को सदैव अपने सम्मुख

रखो और बढ़े चलो। परमेश्वर तुम्हारा कल्याण करे। ॐ।

★ ★ ★ ★

१२/१२/१९८८

.... अपने पत्र के अंतिम वाक्य के पूर्व के वाक्य में आपने लिखा है, "मेरे लिए 'श्रेय' क्या है इस विषय में कृपया मेरा मार्गदर्शन करें।" इस वाक्य को पढ़कर मुझे कठोपनिषद् का एक मंत्र स्मरण हो आता है जिसका भावार्थ कुछ इस प्रकार से है-श्रेय और प्रेय (हमारे लिए श्रेयस्कर तथा जो हमें प्रिय लगता है) दोनों ही मार्ग मनुष्य के सम्मुख होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति दोनों का गहराई से विचार कर उन्हें अलग-अलग कर लेता है। श्रेय अर्थात निरन्तर हित की इच्छा रखने के कारण बुद्धिमान श्रेयमार्ग का ही चुनाव करता है और मन्दबुद्धि व्यक्ति केवल अपने योगक्षेम की चिन्ता करते हुए प्रेय मार्ग को चुनता है।"

अत: यदि हमारे मन में यह विचार आना आरंभ हो गया है कि अब तक हम जिस प्रकार के जीवन में व्यस्त रहे हैं उससे ऊपर उठकर उसके परे भी कोई जीवन है और अब हमारे पास बहुत थोड़ा समय ही शेष रह गया है, तो हमें पूरी लगन के साथ उस पथ पर चल देना होगा जिस पर चलकर हमें सच्चे अर्थ में सुख शान्ति की प्राप्ति हो सके। किसी प्रकार की 'दुविधा' होने का क्या कारण हो सकता है? आज तक के व्यस्त जीवन से निवृत्त होने पर कोई मनोवैज्ञानिक समस्या क्यों खड़ी होनी चाहिए? कोई व्यक्ति यदि ऐसा मार्ग चुनता है जिसके विषय में उसके मन में कोई सन्देह नहीं कि उसी मार्ग पर चलकर उसका आध्यात्मिक कल्याण संभव है, तब उसके लिए उस मार्ग को स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार के प्रतिकूल प्रभाव की संभावना कहां रह जाती है? वैसे भी आप अपने अध्ययन करने की आदत को पूर्णरूप से छोड़ तो नहीं देंगे। शैक्षणिक/वैज्ञानिक साहित्य का स्थान धार्मिक/आध्यात्मिक साहित्य ले लेगा। अपना जीवन क्रम कुछ इस प्रकार बनाइये कि आप अपना समय प्रार्थना, जप, ध्यान, स्वाध्याय तथा कुछ उन शास्त्रों के अध्ययन हेतु दे सकें जो आपके मन को तर्क और विश्लेषण में अथवा 'सुख-दुःख

के पार की स्थिति' का गहन चिंतन करने में व्यस्त रखे। धार्मिक/आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है और किसी हल्के फुल्के शौक के लिए, जैसे कि बागवानी, पेड़ों को पानी देना अथवा लम्बी सैर इत्यादि के लिए भी कुछ समय दिया जा सकता है। मित्र तो अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार ही सलाह देंगे। हमें तो स्वयं अपने ही भीतर विचार कर यह निश्चय करना है कि क्या हम उनके विचारों के अनुरूप हैं अथवा हमारी अभिलाषा इस संसारिक जीवन के पार भी कुछ प्राप्त करने की है। अपने जीवन की अन्तिम चरण संध्या में भी यदि हम इस प्रकार के (आध्यात्मिक) जीवन में छलांग न लगा पाये तो सारा समय व्यर्थ जाने के पश्चात् उस 'अंतिम क्षण' में हमारे पास पश्चाताप करने के अतिरिक्त शेष कुछ नहीं बचेगा। अपनी युवावस्था में मैंने एक महात्माजी से किसी बिशप अथवा उसी के समान चर्च के किसी अन्य व्यक्ति के उद्‌गार सुने थे। किसी विपदा में फंस जाने पर वह कहता है, "काश, मैंने जिस उत्साह के साथ सम्राट की सेवा की है उसकी आधी मात्रा में भी प्रभु की सेवा की होती!" जब आप दोनों (पति-पत्नी) धार्मिक प्रवृत्ति रखते हैं तो आप अपने घर को ही एक आश्रम में परिवर्तित कर सकते हैं। परंतु इस बात का निश्चय कर लीजिए कि अपने अनुसन्धान इत्यादि के क्षेत्र में किसी यश, कीर्ति की किंचित भी लालसा आपके मन में न हो। आप अनेक प्रकार से सम्मानित किए जा चुके हैं। इन सब अनुग्रह के लिए परमेश्वर को धन्यवाद देते हुए अब अपना शेष जीवन उसी परमात्मा के चिंतन में, उसका गुणगान करने में तथा उसे अपना बनाकर अपने मन को उसके चरण कमलों में विलय कर देने में लगायें। श्रीरामचन्द्रजी की घोषणा है,

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतंमम्।"

(मैं उन सभी को जन्म-मृत्यु से अभय अर्थात मोक्ष प्रदान करता हूँ जो एक बार भी यह कहते हैं, 'मैं आपका हूं।' यह मेरा व्रत है।),

वे श्रीराम आपको सही मार्ग दिखायें और आप दोनों पर अपनी असीम

कृपा बरसाते रहें।

★ ★ ★ ★

२७/१/१९८९

अब आपके पत्र में पूछी शंकाओं के बारे में:- यह अच्छी बात है कि आपके पास कोई मंत्र है जिस पर आप की पूर्ण श्रद्धा है। परमेश्वर के नाम का एक निश्चित विधि से बारम्बार स्मरण करना अधिकतर साधकों के लिए साधना का अनिवार्य अंग होता है। जप अंत:करण को शुद्ध करता है, परमेश्वर के प्रति भक्तिभाव बढ़ाता है तथा साधक को श्रेष्ठ विचार और ध्यान करने के योग्य बनाता है। जब तक मन को किसी एक आदर्श-हमारे ईष्ट के साथ जुड़े रहने में प्रशिक्षित नहीं किया जाता, ध्यान करते समय वह एकाग्र नहीं रह पायेगा। इस कारण कुछ दिनों तक केवल जप करने का अभ्यास करने के पश्चात जप के साथ-साथ अथवा जप के बिना भी परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार की साधना मन को एकाग्र कर उसे उच्च स्थिति में स्थापित कर देती है। इसी के साथ अन्य समय में शास्त्रों का अध्ययन, महात्माओं के उपदेश इत्यादि भी पढ़ते रहना चाहिए। इस प्रकार के साहित्य पढ़ने से हमें अपने लिए श्रेय मार्ग चुनना संभव होगा। यदि कोई सोचता है कि केवल तर्क और विश्लेषण के द्वारा साधना का मार्ग उसकी मनोवृत्ति के अनुरूप है तो उसके लिए श्री रमण महर्षि द्वारा बताया गया विचार मार्ग स्वीकार करना उपयुक्त होगा। इस विषय में अधिक जानकारी हेतु श्री पॉल ब्रंटन की टीका पढ़ने की अपेक्षा Talks with Ramana Maharshi तथा उनकी कुछ अन्य पुस्तकों का अध्ययन अधिक उचित होगा (कुछ लोगों के मतानुसार पॉल ब्रंटन ने अपनी कुछ पुस्तकों में श्री रमण महर्षी के उपदेशों की गलत ढंग से व्याख्या की है।) परंतु यदि कोई मूलरूप से भक्तिभाव की मनोवृत्ति वाला है तो उसके लिए ज्ञानमार्ग पर चलना सम्भव नहीं होगा, न ही उसे उस मार्ग पर चलने की सलाह देनी चाहिए। ऐसा करने पर उसका मन अधिक विचलित हो जाएगा। ज्ञान मार्ग के लिए योग्य व्यक्ति को भक्ति की राह पर चलने का परामर्श देने पर भी वही परिणाम होगा (गीता

के दूसरे और बारहवें अध्याय को ध्यान से पढ़ें)। श्री रमण महर्षि, जे. कृष्णमूर्ती तथा उनकी श्रेणी के लोग बिरले ही होते हैं। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में सर्वसाधारण के लिए ज्ञानमार्ग (निर्गुणोपासना) अथवा विचार मार्ग पर चल पाना वास्तव में कठिन होता है-क्लेशोऽधिकतरस्तेषा (गीता १२/५)। परन्तु कुछ काल तक अभ्यास करने के पश्चात किसी विशेष मार्ग के लिए हमारी तीव्र भावना होने पर हम उसे अपने हित में स्वीकार कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न मार्गों का विश्लेषण करने में व्यर्थ मत उलझिये। सारे मार्ग एक परमेश्वर की ओर ही ले जाते हैं। साधकों की भिन्न भिन्न मनोवृत्ति होने के कारण उसके अनुरूप भिन्न भिन्न मार्ग बनाये गये हैं। सच्चे हृदय से प्रभु की प्रार्थना कीजिए कि वह आपको योग्य मार्ग दिखाकर आपका मार्गदर्शन करे। जैसा कि मेरे गुरुदेव के (तथा अन्य अनेक महात्माओं के) उपदेशों में कहा गया है- सबसे महत्वपूर्ण बात हमारी सच्ची लगन है। यदि लक्ष्यप्राप्ति हेतु हमारी लगन सच्ची है और यदि हम परमेश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं तो हमें मार्गदर्शन निश्चित रूप से प्राप्त होगा। जप, ध्यान, विवेक-विचार तथा इनके समान साधना की अन्य विधियों का मिला जुला योग हमारे लिए नि:संदेह लाभकारी सिद्ध होगा और आज के युग के लिए अनेक संत महात्माओं ने यही मार्ग उपयुक्त बताया है। बढ़ते रहिए। परमात्मा ही मार्ग प्रकाशित करेगा। उनके आशीर्वाद आपको सदैव प्राप्त होते रहे।

★ ★ ★ ★

१३/१/१९९०

अपने भाग्य या कर्म के विषय में विचार करने से क्या लाभ है? उतना समय भी ईश्वर चिन्तन में लगाना उचित है। बस, उनकी शरण में जाने पर अपनी चिन्ता को दूर रखना चाहिए। जो कुछ होता है वह सब हमको शिक्षा देने के लिए और हमारी भलाई के लिए ही है। हमारी इच्छानुसार भगवान क्यों वरदान दे? वे जानते हैं हमारे लिए क्या अच्छा है और उसी के अनुसार हमें सुख-दु:ख आते हैं।

★ ★ ★ ★

२०/१/१९९०

"कौन है वह
जिसने अपना स्तनपान कराकर मेरा पालन पोषण किया,
और अपनी गोद में मुझे शांत सुलाया
और मेरे गालो पर मधुर चुंबनों की वर्षा कर दी,
- मेरी माँ"

'My Mother' नामक शीर्षक से एक अंग्रेजी कवि द्वारा लिखी हुई कविता की ये आरंभ की पंक्तियां हैं, जिन्हें हम ७ वीं कक्षा में पढ़ा करते थे। हां, हर कोई अपनी माता से प्रेम करता है, उस पर श्रद्धा रखता है; माता का स्थान पिता से भी उच्च है। इस कारण, माता के अंतिम क्षणों में उसका दर्शन न कर पाने और उसके दाहसंस्कार में सम्मिलित न हो सकने का खेद होना स्वाभाविक ही है। परंतु तुम्हारी माता को इस बात का सन्तोष ही होगा कि उसका पुत्र भले ही उसकी सेवा न कर सका पर अनेक लोगों की उनके प्रियजनों का दाहसंस्कार करने में सहायता करता आया है। जिसका भी जन्म हुआ उसकी मृत्यु निश्चित है-जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु। माता का शरीर चला गया परंतु क्या माता नहीं रही? जब तक उसकी स्मृति और उसके प्रति प्रेम मन में है, वह हृदय में विद्यमान है। इसमें शंका नहीं कि माता या पिता के देहावसान का सभी पर गहरा असर पड़ता है। एक दार्शनिक मनोवृत्ति के होने के उपरान्त भी तुम और ..... को यह क्षति विशेष रूप से महसूस होगी क्योंकि तुम दोनो के पास अपने मन को व्यस्त रखने हेतु अपने स्वयं का 'परिवार' नहीं है। जो मन अभी तक माता के प्रति समर्पित था वह अब परमेश्वर की दिशा में उन्मुख हो। इसी में शान्ति प्राप्त होगी।

★ ★ ★ ★

८/१/१९९०

भक्ति और ज्ञान में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वास्तव में तो हम ऐसे अनेक महापुरुष देखते हैं जिन्होंने इन दोनों के मिले-जुले पथ पर यात्रा की है। श्री रामकृष्ण परमहंस में बाहर से केवल भक्ति थी और

भीतर शुद्ध ज्ञान था। हर सप्ताह अवकाश के दिन वे भविष्य के संन्यासियों को अपने पास बुलाकर उन्हें ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया करते थे। 'डिवाइन लाइफ सोसायटी' के संस्थापक स्वामी शिवानंन्द जी, मेरे अपने गुरुदेव और आधुनिक काल के अनेक महात्माओं ने इसी मिले-जुले पथ का अनुसरण किया है। इसमें किसी भी प्रकार का कर्मकाण्ड नहीं है। जप करना, अपने ईष्ट देवता की मूर्ति पूजा करना, आरती करना अथवा वैदिक मंत्रों का पाठ करना- कर्मकाण्ड नहीं है। ये सब तो अपने मन को परमेश्वर के साथ लगाये रखने की विभिन्न विधियां हैं। यदि इनके बिना भी कोई अपने मन को सदैव परमेश्वर से जोड़े रख सकता हो तो इन्हें छोड़ा भी जा सकता है। अत: इन्हें करना ही है ऐसी बात नहीं है। जब हम मन्त्र जप न कर रहे हों, उस खाली समय का उपयोग शास्त्रों के अध्ययन अथवा महात्माओं के उपदेश पढ़ने में तथा आत्मविचार करने में किया जा सकता है। सतत् अपने मूल स्वरूप का विचार करना अथवा आत्मविचार करना, 'ज्ञानमार्ग' है। आत्मा के इन्द्रियातीत वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करते-करते अर्थात इंद्रियों से मुक्त होकर हम गहराई में उतरते जाते हैं। हमारा अपना शरीर, इंद्रियां तथा जिन्हें हम अभी तक अपने आत्मीय समझते आये हैं उनके सहित समस्त भौतिक जगत के प्रति हमारा मोह और आसक्ति धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में विलीन होती जाती है। उसी प्रकार ज्ञान का सूर्योदय होकर हमें बोध होता जाता है कि यह सब नाशवान तथा क्षणभंगुर है और केवल आत्मा ही शाश्वत आनन्द है। इस प्रकार (ज्ञान और भक्ति) मार्गों का संयोग किसी प्रकार से कर्मकाण्ड नहीं है परंतु साधना की ऐसी विधि है जो वर्तमान युग में अधिकतर लोगों के लिए अतिशय उपयुक्त है। आज के युग में बिना किसी आलम्बन के शुद्ध ज्ञानमार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। उसके लिए अतिशय सूक्ष्म बुद्धि तथा गहन एकाग्रता की आवश्यकता होती है। आप बढ़ते रहें। स्वयं भगवान भी, जिनकी हम आराधना करते हैं, हमसे भिन्न नहीं हैं। परन्तु जब तक हमारे भीतर देहभाव विद्यमान है तथा हम स्वयं को जीव समझ रहे हैं, हमें परमेश्वर को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी ही आराधना करनी है।

★ ★ ★ ★

१२/१/१९९०

'मैं कौन हूँ' इसका अनुसंधान करना ही 'विचार मार्ग' है। श्री रमण महर्षि ने इस विचार मार्ग को उपयुक्त बताया जो परमज्ञान की प्राप्ति करा देता है। परन्तु साथ ही साथ उन्होंने अपने भक्तजनों के अनुरोध पर कुछ श्लोक और गीतों की रचना भी की जो उनके सम्मुख गाये जाते थे। वे स्वयं कहा करते थे कि अरुणाचलेश्वर (महादेव) उनके पिता हैं। उनमें भक्तिभाव प्रचुर मात्रा में था। हनुमान जी से एक बार भगवान राम ने जब पूछा कि वे उनके (श्रीराम के) बारे में किस प्रकार सोचते हैं तो हनुमान जी ने उत्तर दिया, "मैं जब देहभाव के साथ होता हूं तब मैं आपका दास हूं; जब मैं जीवभाव के साथ होता हूं तब आपका अंश हूं; जब मैं आत्मभाव में होता हूँ तब मैं अन्य कुछ नहीं परन्तु स्वयं आप ही हूँ, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"

"देहबुद्धया तु दासोऽहं, जीवबुद्धया त्वदशंक:।
आत्मबुद्धया त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मति: ।।"

इस प्रकार भक्त अपने देहभाव इत्यादि का त्याग कर परमेश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'Altar Flowers' **नामक पुस्तक के अंतिम खंड में** 'Vedantic Stotras' अथवा इसी के समान किसी अन्य शीर्षक के अंतर्गत श्री शंकराचार्य के कुछ श्लोक तथा कुछ अन्य आध्यात्मिक रचनाएं उनके अंग्रेजी अनुवाद सहित दी गयी हैं। यदि आप उनका अध्ययन करें तो आपको 'मैं शरीर नहीं हूँ' अथवा 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' इत्यादि विचारों का चिन्तन-ध्यान किस प्रकार किया जा सकता है, इसके संकेत मिल सकेंगे।

सहज ही ये विचार मन में उठ आये और इस कारण मैं ये पंक्तिया लिख रहा हूँ। मैंने जो कुछ पुस्तकों में पढ़ा और महात्माओं से सुना, वही लिखा है।

★ ★ ★ ★

७/२/१९९०

"स्वागत है तुम्हारा समस्त पीड़ाओं"। इस प्रकार का भाव लेकर चलने पर हमें कौन सी विपदा अथवा दर्द प्रभावित कर पाएगा? शारीरिक दर्द और कष्ट तो निश्चित रूप से रहेंगे परंतु यदि हम मानसिक रूप से उनका प्रभुत्व स्वीकार करें तब तो वे और भी अधिक तूफान खड़ा कर देंगे। यह वैसे ही है जैसे कि कोई हमें अपशब्द कह रहा हो और हम उसे उसी भाषा में प्रत्युत्तर देने लगें तो वह और भी अधिक गंदे शब्द बकने लगता है परन्तु उसकी गालियां सुनकर भी यदि हम शांत रहें तो थोड़ी देर में वह थककर स्वयं ही वहां से चला जायेगा। इसी प्रकार से मन जब तक किसी उच्च स्थिति में स्थापित है (अथवा बहिर्मुखी होते हुए भी जब तक वह देहभाव से दूर है), शारीरिक कष्टों का किंचित भी असर नहीं पड़ता।

देशत्यागो महान व्याधिर्विरोधो बन्धुभि: सह।
धनहानिरपमानं च मदनुग्रहकारणम्।।

"अपने मूलस्थान का त्याग, महान व्याधि, मित्र तथा संबंधियों से विरोध, धनहानि, तथा समाज में मानहानि, ये सारे प्रसंग मेरे अनुग्रह के कारण आते हैं।"

भगवान श्रीकृष्ण के ये वचन नारद पंचरत्र अथवा उसी के समान अन्य किसी पुस्तक से उद्धरित हैं जो मैंने कुछ वर्ष पूर्व किसी पत्रिका में पढ़े थे। इस कारण ये सारी व्याधियाँ उनका अनुग्रह ही है।

★ ★ ★ ★

ॐ